अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2001-2002 13-14

अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी
राजस्थान

अपभ्रंश भारती

वार्षिक

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 2001-2002

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
श्री अशोककुमार जैन
श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला
डॉ. जिनेश्वरदास जैन
डॉ. प्रेमचन्द राँवका

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

प्रबन्ध सम्पादक
श्री नरेन्द्र पाटनी
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक
अपभ्रंश साहित्य अकादमी
जैनविद्या संस्थान
प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य
30.00 रु. सामान्यत:
60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक
जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.
जयपुर

पृष्ठ संयोजन
आयुष ग्राफिक्स
बापू नगर, जयपुर
फोन : 94140-76708

विषय–सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
	प्रकाशकीय		
	सम्पादकीय		
1.	अपभ्रंश साहित्य की तत्युगीन परिस्थितियाँ	**डॉ. आदित्य प्रचण्डिया**	1
2.	जत्थ सरिसुप्पलाइं	**महाकवि स्वयंभू**	8
3.	'पउमचरिउ' तथा रामचरितमानस की प्रमुख घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन	**डॉ. मंजु शुक्ल**	9
4.	सीयल छाय-लयाहरसयमणोहर	**महाकवि स्वयंभू**	26
5.	'पउमचरिउ' : भक्ति, वीर एवं शृंगार रस का अद्‌भुत समन्वय	**डॉ. मधुबाला नयाल**	27
6.	तहिं उज्जेणिपुरी परिणिवसइ	**महाकवि रइधू**	50
7.	पउमचरिउ की सीता	**श्रीमती स्नेहलता जैन**	51
8.	ज जणहँ सुचित्तहरा	**महाकवि रइधू**	60
9.	करकंडचरिउ में सौन्दर्यविधान	**डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'**	61
10.	वित्थिण्ण पएसु मगहादेसु	**महाकवि रइधू**	70
11.	करकंडचरिउ की प्रमुख काव्यरूढि –मंगलाचरण	**डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया**	71
12.	जसहरचरिउ में निरूपित इन्द्रिय संयम— एक विवेचन	**डॉ. आराधना जैन 'स्वतन्त्र'**	75
13.	वरवत्थु रयणधारण णिहाणु	**महाकवि रइधू**	82
14.	जैन फागु की लोकपरकता	**डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी**	83
15.	'राउलवेल' में वर्णित नारी के वस्त्राभूषण तथा शृंगार-प्रसाधन	**डॉ. हर्षनन्दिनी भाटिया**	89
16.	प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थों में अयोध्या	**श्री वेदप्रकाश गर्ग**	95

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यत: वर्ष में एक बार, महावीर निर्वाण दिवस पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसन्धान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्राय: उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावत: तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 सेण्टीमीटर का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जायेंगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता —

सम्पादक
अपभ्रंश भारती
अपभ्रंश साहित्य अकादमी
दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी
सवाई रामसिंह रोड
जयपुर - 302 004

प्रकाशकीय

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययनकर्ताओं के सम्मुख 'अपभ्रंश भारती' का यह संयुक्त अंक (तेरहवाँ-चौदहवाँ अंक) प्रस्तुत करते हुए हर्ष है।

अपभ्रंश का अर्थ है– लोकभाषा/जनबोली। सामान्य लोगों की बोलचाल की भाषा ही लोकभाषा/जनबोली होती है। लोकभाषा/जनबोली सांस्कृतिक मूल्यों की वाहक होती है। लोकभाषा/जनबोली बदलती चलती है। ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी में लोकभाषा/जनबोली 'अपभ्रंश' साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए एक सशक्त माध्यम बन गई।

भारतीय संस्कृति को समग्ररूप से जानने के लिए लोकभाषाओं के साहित्य का अध्ययन एक अनिवार्यता है। जन-जीवन में व्याप्त सांस्कृतिक मूल्यों को आत्मसात करने की ओर झुकाव लोकभाषाओं के साहित्य के प्रति रुचि जागृत करने से ही होती है।

इस तथ्य से प्रेरित दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा सन् 1988 में **'अपभ्रंश साहित्य अकादमी'** की स्थापना की गई। अपभ्रंश भाषा के प्रति रुचि जागृत करने के लिए, उसके अध्ययन-अध्यापन के लक्ष्य को सम्यक् दिशा प्रदान करने के लिए अकादमी से 'अपभ्रंश रचना सौरभ', 'अपभ्रंश अभ्यास सौरभ', 'अपभ्रंश काव्य सौरभ', 'प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ', 'प्राकृत रचना सौरभ', 'प्राकृत अभ्यास सौरभ', 'प्रौढ़ प्राकृत रचना सौरभ', 'प्रौढ़ प्राकृत-अपभ्रंश रचना सौरभ भाग-2', 'प्राकृत गद्य-पद्य सौरभ', 'अपभ्रंश : एक परिचय' आदि पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है। पत्राचार के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर 'अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम व अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम' संचालित हैं। अपभ्रंश भाषा में मौलिक लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए **'स्वयंभू पुरस्कार'** भी प्रदान किया जाता है।

जिन विद्वान् लेखकों के लेखों से इस अंक का कलेवर बना है उनके हम आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं। अंक के पृष्ठ-संयोजन के लिए आयुष ग्राफिक्स, जयपुर एवं मुद्रण के लिए जयपुर प्रिण्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादार्ह है।

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

नरेन्द्र पाटनी
मानद मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी

स्वयंभू पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी एवं अँग्रेजी में रचित रचनाओं पर 'स्वयंभू पुरस्कार' दिया जाता है। इस पुरस्कार में 11,001/- (ग्यारह हज़ार एक) रुपये एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जाता है।

पुरस्कार हेतु नियमावली तथा आवेदन-पत्र प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय – दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर – 4, से पत्र-व्यवहार करें।

सम्पादकीय

"भारत में राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ भाषा में भी परिवर्तन होता रहा है। आर्यों के आगमन पर यह केन्द्र पश्चिम रहा। पुनः कौशल तथा मगध और अन्त में जब संस्कृत प्रधान भाषा हो गई तब पश्चिम में पुनः नवीन भाषाओं ने अपना विकास-क्रम अपनाया। यह भाषा-वैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक केन्द्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक व्यापक राष्ट्र-ीय भाषा के रूप में ढल जाती हैं। अपभ्रंश का युग प्रायः छः सौ ईसवी से बारह सौ ईसवी तक माना जाता है। राजनीतिक सत्ता मगध के केन्द्र से हटकर प्रायः प्राचीन मध्यदेश में रही। कन्नौज तथा मथुरा के आस-पास के नगर सांस्कृतिक केन्द्र रहे। कभी यह धारा पश्चिमोन्मुखी होकर गुजरात एवं मालवा तक पहुँची।"

"अपभ्रंश साहित्य अपनी युगचेतना से एकदम अछूता नहीं है। इनके कथानायकों में अपने युग के शासकों के स्वभाव, रुचि, रीति-नीति, विद्यानुराग और धार्मिक मनोवृत्ति लक्षित की जा सकती है।"

"अपभ्रंश काव्य-परम्परा में महाकवि स्वयंभूदेव का 'पउमचरिउ' अपने मौलिक कथा-प्रसंगों एवं शिल्पगत विशेषताओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पाँचों काण्डों – विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड एवं उत्तर काण्ड के रूप में बँटी कथा की 90 सन्धियाँ अद्भुत काव्य-प्रतिभा का परिचय है। भामह, दण्डी, रुद्रट एवं आचार्य विश्वनाथ द्वारा महाकाव्य के स्वरूप की प्रस्तुत की गई कसौटियों में कथानक, सर्ग-निबन्धन, महान् चरित्र-अवतारणा, उत्कृष्ट एवं अलंकृत शैली, चतुर्वर्गसिद्धि, वर्ण्य वस्तु-विस्तार एवं रस-योजना महत्त्वपूर्ण है। स्वयंभू का 'पउमचरिउ' इन मानदण्डों पर खरा सिद्ध होते हुए रस-योजना की दृष्टि से अत्यन्त प्रभविष्णु है।"

"अभिव्यञ्जना का माध्यम है शब्द। स्वयंभूदेव शब्दों की आत्मा को, भाषा की बारीकियों को पकड़ते हुए अपभ्रंश भाषा के सूक्ष्म और गूढ़ नियमों का सावधानी से पालन करते है।"

"उदात्त अभिव्यक्ति के पाँच प्रमुख स्रोत माने गये हैं –

1. महान् धारणाओं की क्षमता,
2. प्रेरणा-प्रसूत आवेग,
3. अलंकारों की समुचित योजना,
4. उत्कृष्ट भाषा
5. गरिमामय एवं अर्जित रचना-विधान।

'पउमचरिउ' में लगभग ये सभी स्रोत विद्यमान हैं। जीवनभर क्षुद्र उद्देश्यों एवं विचारों में

ग्रस्त व्यक्ति के लिए स्वयंभूदेव का 'पउमचरिउ' उनके प्रकर्ष में सहायक है। आवेग की तो यहाँ कोई कमी नहीं। दया, शोक, भय, साहस, धैर्य – सभी के प्रसंग महाकाव्य में विद्यमान हैं।''

''महिलाओं के स्त्रीत्व की रक्षा हेतु उन महिलाओं को आदर्श रूप में रखने की आवश्यकता है जो सदियों से आत्मिक विकास के अनमोल रत्न रही हैं।''

''अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयंभू द्वारा रचित 'पउमचरिउ' काव्य की नायिका सीता भी ऐसा ही आदर्श रत्न है जो प्रत्येक महिला को सहज चित्त, शीलवान, गुणानुरागी तथा नीतिज्ञ बनने का सन्देश देती है। वह यह भी घोषणा करती है कि इन गुणों को अपनाकर आज भी वह विश्व के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति के लुप्त होते हुए गौरव को पुन: प्रतिष्ठित स्थान दिलवाने में समर्थ है।''

'' 'पउमचरिउ' की सीता नारी-सुलभ सहजभावों से युक्त होने से सहजचित्त है। इस रूप में वह कभी भयभीत होकर करुण विलाप करती हुई अपने भाग्य को कोसती नजर आती है तो कभी मातृत्व भाव से शुभकामनाएँ देती हुई दिखती है। वही सीता रावण द्वारा हरण किये जाने पर राम से वियुक्त होती है तो अपने शील की रक्षा के प्रयत्न में कठोर बन जाती है। उसके जीवन में शील के सौन्दर्य को विकृत करनेवाले अनेक उपसर्गकारी प्रसंग आते हैं किन्तु वह उपसर्गों की उस घड़ी में अविचलित होकर अपने शील की रक्षा तो करती ही है साथ ही उपसर्ग करनेवालों को भी प्रभावहीन कर देती है। शील-सौन्दर्य को मलिन करनेवाले ये उपसर्ग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में हुए हैं। सीता ने भी अपने शील की रक्षा में उन्हीं उपसर्गों के ठीक अनुरूप भिन्न-भिन्न रूपों में ही अपने विवेक का उपयोग किया है।

इस तरह इन सहज, कोमल तथा शील की रक्षा में कठोर भावों से युक्त सौन्दर्य को प्राप्त सीता के जीवन के पक्षों को कवि स्वयंभू ने अपने 'पउमचरिउ' में बहुत ही सरल एवं सुन्दर रूप में संजोया है।''

''यद्यपि 'पउमचरिउ' तथा 'मानस' दोनों में ही अनेक अवान्तर प्रसंग आये हैं जो मूलकथा को गति प्रदान करने के साथ ही विभिन्नता भी प्रदान करते हैं परन्तु दोनों महाकाव्यों में मूलकथा एक होने के उपरान्त भी अवान्तर कथाएँ नितान्त भिन्न हैं। चरिउ में वर्णित अवान्तर कथाएँ इस प्रकार हैं – विभिन्न वंशों, यथा – विद्याधर – इक्ष्वाकु इत्यादि की उत्पत्ति, भरत-बाहुबलि आख्यान, भामण्डल आख्यान, रुद्रभूति और बालिखिल्य की कथा, वज्रकर्ण तथा सिंहोदर की कथा, राजा अनन्तवीर्य की कथा, पवनंजय आख्यान, वरुणगाँव के कपिल मुनि, यक्षनगरी, कुलभूषण-देशभूषण मुनियों की कथाएँ इत्यादि।

मानस में अवान्तर कथाओं के अन्तर्गत जो कथाएँ ली जा सकती हैं वे इस प्रकार हैं– शिव-पार्वती कथा, विश्वमोहिनी की कथा, मनु-शतरूपा आख्यान, कैकेयदेश के राजा प्रतापभानु के पूर्वजन्म की कथा, जय-विजय की कथा, कश्यप-अदिति आख्यान, निषादराज, गुह, भरद्वाज,

अगस्त्य, सुतीक्ष्ण ऋषियों से भेंटवार्ता, अहल्योद्धार, जयन्त-प्रकरण, शबरी, शूर्पनखा, मन्थरा, जटायु, सुमन्त्र, सम्पाती, ताड़का, खरदूषण तथा परशुराम प्रसंग, प्रभृति। इसके अतिरिक्त रावण तथा काकभुशुण्डि के चरित्र को भी प्रासंगिक कथाओं के अन्तर्गत लिया जा सकता है।''

''करकंडचरिउ का कवि सौन्दर्य का सच्चा चित्रकार है। साथ ही, सौन्दर्य विधान में उसकी उर्वर कल्पना ने अनूठा योगदान दिया हैं। तभी तो अनेक भावात्मक प्रसंगों की उद्भावना करके कथा को रससिक्त कर दिया है। जहाँ उसने विविध बिम्बों की अवतरणा की है वहाँ वर्णन में भी उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे सुन्दर चित्र ही निर्मित कर दिये हैं। रूप-चित्रण और भाव-आकलन में उसकी कारयित्री-प्रतिभा ने सचमुच कमाल ही कर दिया है। उसकी लोकानुभूति और लोकजीवन के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की क्षमता निराली है। इसी से वीतरागी संन्यासी होने पर भी उसने अपनी रसात्मकता का सहज परिचय दिया है और सौन्दर्य-विधान में कहीं अलंकारों के सहारे और कहीं कल्पना के द्वारा भव्य बिम्ब बनाये हैं जिनमें मधुरता है, सरसता है। सारांशत: उनका समूचा सौन्दर्य-विधान काव्य की रसानुभूति में सर्वत्र सफल है। उसके सौन्दर्य-बोध में अन्त:करण का योग है तथा उसके चित्रण में गहन आन्तरिकता एवं आध्यात्मिक वृत्ति का संचरण हुआ है। उसमें कलात्मकता और भव्यता है।''

'' 'जसहरचरिउ' में कथा व उपदेश के माध्यम से निरूपित इन्द्रिय-संयम की और उन्मुक्त व अनावश्यक भोगों से बचने की प्रेरणा दी गई है। इसका लाइलाज बीमारियों से बचने, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इससे भोगोपभोग-सामग्री के संचय की वृत्ति भी नियन्त्रित होती है तथा अन्य को भी उसकी प्राप्ति के सहज अवसर मिल जाते हैं। इन्द्रिय-संयम, अहिंसादि वृत्तियाँ मानव को स्वावलम्बी बनाती हैं। यह आत्मोत्थान की यात्रा के पथिक के लिए श्रेष्ठतम सम्बल है।''

'' 'राउलवेल' में वर्णित विभिन्न नायिकाओं के वस्त्राभूषणों और शृंगार-प्रसाधनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय आभूषणों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कवि ने नायिकाओं का वर्णन करते समय प्रयत्न किया है कि कुछ यथार्थ और चमत्कार लाने के लिए उस क्षेत्र विशेष की नायिका के वस्त्राभूषण-वर्णन में उस क्षेत्र की भाषा का प्रयोग हो।''

''अपभ्रंश की प्रबन्धमूलक काव्याभिव्यक्ति में 'मंगलाचरण' एक सुपरिचित काव्यरूढ़ि है। मंगलाचारण एक यौगिक शब्द है। 'मंगल' और 'आचरण' से मिलकर इस शब्द का गठन होता है। 'मंगल' मंगलाचरण का पूर्व और अपूर्व रूप है। 'मंगल' शब्द का अर्थ है – पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य। ये सभी शब्दार्थ 'मंगल' शब्द के पर्यायवाची हैं।'' ''काव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण प्रथा और प्रचलन अपभ्रंश के प्रारम्भ से ही परिलक्षित है।'' ''अपभ्रंश के 'मंगलाचरण' प्रयोग की इसी परम्परा की अनुमोदना परवर्ती अपभ्रंश कविवर मुनि श्री कनकामर ने अपने करकंडचरिउ काव्य में भी की है।'' ''अपभ्रंश के

परवर्ती काव्य विशेषकर हिन्दी वाङ्मय में कविरूढ़ियों की भाँति 'मंगलाचरण' का प्रयोग अनिवार्य हो गया है।''

''जैन फागु-वर्णनों में धार्मिकता के साथ ऐहिकता का इतना अधिक मिश्रण है कि कभी-कभी तो पाठक को भी भ्रम होने लगता है कि कहीं शृंगार-वर्णन तो नहीं हो रहा है!''

''जहाँ पर जैन कवियों ने लौकिक लोकाचार को सामने रखा वहाँ पर साहित्यिकता के श्रेष्ठ अंश हमें दिख जाते हैं।''

''प्राचीन भारतीय साहित्य में महानगरी अयोध्या के अनेक वर्णन प्राप्त हैं। अयोध्या की गणना दस प्राचीन महा-राजधानियों एवं उत्तरापथ की पाँच महानगरियों में की गई है।''

''इस पावन महानगरी के जैसे सुन्दर एवं भक्तिपूर्ण वर्णन जैन-साहित्य में मिलते हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं, क्योंकि जैन मतावलम्बियों के अनुसार ऋषभदेवजी आदि पाँच तीर्थंकरों की जन्मस्थली है और उनके (24) तीर्थंकरों में से 22 इक्ष्वाकुवंशी थे। अयोध्या को ही इक्ष्वाकु-वंशियों की राजधानी कहलाने का गौरव प्राप्त है। यही कारण है कि अन्य नगरियों की अपेक्षा अयोध्या को जैनों ने अधिक महत्त्व दिया है।''

''अपभ्रंश के जैन कवि यों तो वीतरागी संन्यासी थे; फिर भी, अपनी काव्य-कृतियों के सौन्दर्य-विधान में उनकी कारयित्री-प्रतिभा ने कहीं कोई कसर नहीं छोड़ी है। वस्तु-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य, अलंकार-सौन्दर्य, रूप-सौन्दर्य, प्रकृति-सौन्दर्य, अनुभूति-सौन्दर्य तथा लोक-सांस्कृतिक-सौन्दर्य आदि सभी के संघटन में उनकी नवनवोन्मेषशालिन कला और कल्पना का सहज परिचय मिलता है। सचमुच, उनका सौन्दर्य-बोध अनूठा है। इसके लिए उन्हें जहाँ जो उपादान मिला उसी का उचित स्थान पर प्रयोग करके कथा-काव्यों को अद्वितीय बना दिया है। काव्य सौन्दर्य की साधना ही तो है। सौन्दर्यानुभूति का आनन्द से अनिवार्य सम्बन्ध है। सौन्दर्य-सृजन और सौन्दर्य-भावन में सृष्टा और सहृदय की स्वाद-रुचि का सापेक्षिक महत्त्व है। निदान संन्यासी होने पर भी ये सौन्दर्य के प्रति उदासीन कैसे रह सकते थे ? और सच बात तो यह है कि विकारहीन हृदय को ही सौन्दर्यानुभूति अथवा काव्य की रसानुभूति होती है। इनसे तो मानवीय अन्तःकरण प्रांजल और परिष्कृत होता है। तभी तो सहृदय में सत् का प्रादुर्भाव होने से वह काव्य-रस का आस्वादन करता है। जीवन में कठोर संयम के कारण ये कवि-मुनि और आचार्य अवश्य स्वयं को जल में कमल-पत्रवत् ही बनाये रखते होंगे तथा सौन्दर्य एवं काव्यरस से अभिभूत होकर आनन्दित रहते होंगे। इस दृष्टि से इनका काव्य-सृजन जहाँ इनकी सौन्दर्य-चेतना से अछूता नहीं रहा है, वहाँ अपने परा-आदर्श और उद्देश्य को भी पाने में समर्थ हुआ है। धार्मिक उपलब्धि ही इनका प्रधान प्रयोजन है। इसलिए कथा लोक-जीवन में विस्तार पाकर अन्त में जैन मुनि के दीक्षा-संस्कार में परिणत हो जाती है और कवि को सौन्दर्य-विधान का पूरा-पूरा अवसर मिल जाता है जिससे उसमें रसात्मकता का उद्रेक होता है।''

विद्वान्-लेखकों, जिनके लेखों से इस अंक को यह रूप मिला, उनके प्रति आभारी हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के भी आभारी हैं। पृष्ठ-संयोजन हेतु आयुष ग्राफिक्स, जयपुर तथा मुद्रण हेतु जयपुर प्रिण्टर्स प्राईवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

— डॉ. कमलचन्द सोगाणी

अपभ्रंश साहित्य की तत्युगीन परिस्थितियाँ

- डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

■

अपभ्रंश साहित्य के रचनाकारों का दृष्टिकोण धार्मिक होने के कारण अपभ्रंश साहित्य की भूमिका में धार्मिक विचारधारा की प्रधानता है। भारत में राजनीतिक सत्ता के साथ-साथ भाषा में भी परिवर्तन होता रहा है। आर्यों के आगमन पर यह केन्द्र पश्चिम रहा पुन: कौशल तथा मगध और अन्त में जब संस्कृत प्रधान भाषा हो गई तब पश्चिम में पुन: नवीन भाषाओं ने अपना विकास-क्रम अपनाया।[1] यह भाषा-वैज्ञानिक तथ्य है कि राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक केन्द्रोन्मुखता के कारण विविध स्थानीय बोलियाँ एक व्यापक राष्ट्रीय भाषा के रूप में ढल जाती हैं। अपभ्रंश का युग प्राय: छह सौ ईसवी से बारह सौ ईसवी तक माना जाता है।[2] राजनीतिक सत्ता मगध के केन्द्र से हटकर प्राय: प्राचीन मध्यदेश में रही। कन्नौज तथा मथुरा के आस-पास के नगर सांस्कृतिक केन्द्र रहे। कभी यह धारा पश्चिमोन्मुखी होकर गुजरात एवं मालवा तक पहुँची। यद्यपि अपभ्रंश साहित्य में राजनीतिक चेतना का अभाव है तथापि अपभ्रंशकालीन परिस्थितियों की जानकारी इस साहित्य के सम्यक् स्वाध्याय में सहायक होगी। यहाँ हमें राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक परिस्थितियों के लेखा-जोखा की प्रस्तुति अपेक्षित है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ

गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर ईसा की छठी शती में राजनीतिक सत्ता का केन्द्र मगध से हट गया। हूणों के सतत आक्रमण और अत्याचारों से अव्यवस्था फैली और

नवीन राजनीतिक विभागों का उदय हुआ। पूर्वी काठियावाड़ में वल्लभीराज का आविर्भाव हुआ। गुर्जर लोगों ने अपने लिए नवीन राज्य की स्थापना की। इस प्रकार गुजरात काठियावाड़, पंजाब, दक्षिण मारवाड़ तथा कन्नौज में मगध के शक्तिहीन साम्राज्य के साथ नवीन राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।[3] सातवीं शती की शुरूआत में थानेसर अर्थात् कुरुक्षेत्र में प्रभाकरवर्धन ने उत्तरपथ की ओर अपनी शक्ति का वर्धन किया। हर्षवर्धन उत्तर भारत की बिखरी राजकीय सत्ता की बागडोर सम्भाले रहे। हर्षवर्धन ने चीन में भी अपने दूत भेजे और चीन के दूत भी कन्नौज आए। हर्षवर्धन की तरह पुलकेशी द्वितीय दक्षिण में शक्तिशाली राजा था। इनके राज्य में ईरान के राजा खुसरों ने अपने दूत भेजे। अरबों ने सात सौ दस ईसवी में सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली। भारत में पुनः जागृति की लहर दौड़ गई और अरबियों का प्रसार उस दिशा से रुक गया। परन्तु अरबियों के प्रवेश से हिन्दू तथा अरब संस्कृति का परस्पर आदान-प्रदान चल पड़ा। भारत के हिन्दू मनीषी बगदाद गए और अरब के विद्यार्थी भारत में आये। दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास एवं काव्य आदि ग्रन्थों का अनुवाद अरबी में हुआ। भारत से गणित का ज्ञान और पंचतंत्र की कहानियाँ आदि अरबियों द्वारा ही यूरोप को प्राप्त हुई।[4] नवीं शती में कन्नौज पर पुनः प्रतिहारों का आधिपत्य हुआ क्योंकि हर्ष के साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर उत्तर भारत अनेक राज्य-खण्डों में विभक्त हो गया था। इनमें से पूर्व में बिहार-बंगाल के पाल, पश्चिम में गुजरात-मालवा के प्रतिहार और दक्षिण में मान्यखेट के राष्ट्रकूट मुख्य थे। ये तीनों कन्नौज को हस्तगत करना चाहते थे लेकिन नवीं शती में भोज और उसके वंशजों ने कन्नौज पर आधिपत्य प्राप्त किया। कन्नौज भारत के सबसे प्रतापी राजाओं की राजधानी बन गया। इन सब शक्तियों और राष्ट्रों में से प्रतिहार और राष्ट्रकूट ही भौगोलिक स्थिति के कारण भारत में बाह्य आक्रमण को रोकने में समर्थ थे और इनके अधीन छोटे-छोटे राजा प्रायः परस्पर में लड़ते रहते थे। दसवीं शती में छोटे-छोटे राज्यों में आपस में लड़ाई होती रही जिसमें उनमें क्षत्रियोचित वीरता और पराक्रम की भावना सदैव प्रदीप्त रही। राज्य को उन्नत रखने की प्रवृत्ति भी पनपी। कभी-कभी एक राज्य दूसरे राज्य के पराभव के लिए विदेशियों से सहयोग लेने में हिचकते नहीं थे। राजा के प्रति आदरभाव था लेकिन राष्ट्र की भावना उद्‌बुद्ध न हो पाई थी। ग्यारहवीं शती से अफगानिस्तान की ओर से इस्लाम के नए आक्रमण आरम्भ हो गए। ग्यारहवीं तथा बारहवीं शती में भारत की हिन्दू शक्ति अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो गई। पाल, गहड़वार, चालुक्य, चन्देल और चौहानों के अतिरिक्त गुर्जर, सोलंकी तथा मालवा में परमार वंश के स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुए। इन विभिन्न राज्यों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष इतिहास में प्रसिद्ध है। इनमें संगठन का सर्वथा अभाव था। अतः आक्रमणकारी सत्ता को इन्हें पराजित करने में किसी विशेष परिश्रम की आवश्यकता न हुई। बारहवीं शती में अजमेर के चौहानों ने पुनः आती हुई इस्लाम की सत्ता को रोकने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहे। फलस्वरूप तेरहवीं शती से हिन्दुओं की

राजशक्ति पूर्ण अस्त-व्यस्त एवं छिन्न-भिन्न हो गई और धीरे-धीरे समस्त उत्तरापथ इस्लाम के अधीन हो गया।

धार्मिक परिस्थितियाँ

धार्मिक क्षेत्र में अनेक मत-मतान्तरों का जन्म हुआ। 'हर्षचरित' के अष्टम अध्याय में दिवाकर मिश्र के आश्रम में रहनेवाले उन्नीस सम्प्रदायों के अनुयायियों के नाम गिनाए हैं। अर्हत, मस्करी, श्वेतपट, पाण्डुरिभिक्षु, भागवत, वर्णी, केशलुंचन, कामिल, जैन, लोकायतिक, काणाद, औपनिषद, ऐश्वरकारणिक, कारंधमी, धर्मशास्त्री, पौराणिक, साप्ततन्तव शाब्द, पाँचरात्रिक आदि दिवाकर मिश्र के आश्रम में नानादेशीय सिद्धान्त विद्यमान थे।[6] इससे विदित होता है कि भारत में बौद्ध, जैन तथा वैदिक धर्मों का प्रचुर परिमाण में प्रचार था। उत्तरार्ध में इस्लाम धर्म का प्रवेश हो गया। यह सुखद आश्चर्य है कि सभी धर्मावलम्बियों ने अपभ्रंश में रचना की और उन रचनाओं में धार्मिक प्रभाव परिलक्षित है।

बौद्धधर्म महात्मा बुद्ध का मध्यम मार्ग था जिसमें आचार, शुद्धता, अहिंसा तथा सर्वजनहिताय की भावना बद्धमूल थी। वर्णाश्रम धर्म की मान्यता न थी। हर्षवर्धन के समय बौद्धधर्म अवनत और विकृति की स्थिति में था। बौद्धधर्म महायान और हीनयान में विभक्त हुआ। महायान भी अनेक उपयानों में विभक्त हो गया। महायान का शून्यवाद और विज्ञानवाद साधारण जनता को प्रभावित न कर सका। इसमें महासुखवाद के सम्मिश्रण से वज्रयान का प्रादुर्भाव हुआ। मंत्र-तंत्रों का प्रयोग बढ़ने लगा। मंत्र, हठयोग और मैथुन – इन तीन तत्त्वों के समावेश से बौद्ध धर्म मंत्रयान में परिणत हो गया।[7] मंत्रयान, वज्रयान तथा सहजयान बौद्धधर्म के ही विकृत रूप थे। सहजयान का लक्ष्य था कि सहज मानव की जो आवश्यकताएँ हैं उन्हें सहज रूप में पूरा होने दिया जाए। लेकिन सहजयान में भी तंत्र, मंत्र, भूत-प्रेत, जादू-टोना आदि अनेक मिथ्याधारणाओं का प्राबल्य हो गया। सहजयान तथा वज्रयान से सिद्ध बहुत प्रभावित हुए। चौरासी सिद्धों द्वारा ही बौद्धधर्म अधिक प्रभावोत्पादक बना। चीनी यात्रियों के लेखों से संघों की पतनावस्था का संकेत प्राप्त होता है।[8] इस काल के राष्ट्रकूट और गुर्जर सोलंकी राजाओं में से कुछ का जैनधर्म पर बहुत अनुराग था, किन्तु इन राजाओं पर जैनधर्म की अहिंसा का अधिक प्रभाव न पड़ा था। जैन गृहस्थ ही नहीं जैन मुनि भी तलवार की (वीर रस की) महिमा गाते हुए देखे जाते हैं। जैनधर्म में व्यापारी वर्ग का प्राधान्य था किन्तु अनेक व्यापार करनेवाली जातियों ने जिन्होंने जैनधर्म को अपनाया उन्होंने इस धर्म के अहिंसा सिद्धान्त को खूब निभाया। इनमें से अनेक जातियों ने जो पहले क्षत्रिय जातियाँ थीं, किसी समय शकों और यवनों से लोहा लिया था, अब लक्ष्मी की शरण में जाकर उन्होंने अपने क्षत्रियोचित पराक्रम को खो दिया। दया और अहिंसा, व्रत, उपवास और तपस्या की जैन धर्म में प्रधानता रही।[9] जैनधर्म भी कालान्तर में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दो आम्नायों में बँट गया। दक्षिण में दिगम्बर तथा गुजरात-राजपूताना में श्वेताम्बरों का प्राधान्य रहा।

जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की सुरक्षा में बहुत योगदान दिया है। इनका साहित्य बड़ा सम्पन्न है। जैनों ने दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त काव्य, नाटक, व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद, कोश, छन्द, अलंकार, गणित तथा राजनीति आदि विषयों पर भी लिखा है। फिर गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलुगू, तमिल और विशेषरूप से कनड़ी साहित्य में उसके प्रदेय का आधिक्य है।[10] जैनाचार्य अपने पाण्डित्य से अनेक राजाओं के कृपापात्र बने और उनसे अनेक ग्राम दान-रूप में प्राप्त किए। दक्षिण में शैवधर्म के प्रबल होने से जैनधर्म को धक्का लगा। शैवधर्म ही जैनधर्म को दक्षिण से उखाड़ने का प्रधान कारण है। गुजरात और राजपूताना में जहाँ राजपूत-क्षत्रिय अपनी तलवार और शस्त्र विद्या के लिए प्रसिद्ध थे, जैनधर्म का प्रचार होना आश्चर्य ही है। हिंसा और अहिंसा की लहर भारत में क्रम-क्रम से आती-जाती रही। इस काल में फिर अहिंसा की लहर ज़ोर से आई, जिससे सारा भारत प्रभावित हो गया। गुजरात, मालवा और राजपूताना में इसी लहर के प्रभाव से जैनधर्म फिर चमक पड़ा और इसमें हेमचन्द्र जैसे अनेक जैन आचार्यों का योगदान उल्लेखनीय रहा है। यद्यपि जैनधर्म उत्तर भारत के अन्य प्रदेशों में और बंगाल में न फैल सका तथापि अनेक जैन व्यापारी इन प्रदेशों में भी फैले और अहिंसा का प्रचार वैष्णवधर्म के साथ सिन्धु नदी से लेकर ब्रह्मपुत्र तक हो गया। अहिंसा के साथ पशु-हिंसा और मांसभक्षण भी रुक गए।

वैष्णवधर्म में जैनों के समान तप और त्याग की वह कठोरता न थी, अतएव जन-सामान्य ने इसे सरलता और शीघ्रता से स्वीकार लिया।[11] इस प्रकार ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में पश्चिम भारत में जैनधर्म, दक्षिण में शैवधर्म, पूर्व में और उत्तर में वैष्णवधर्म विशेष रूप से फैला हुआ था। वैष्णव और शैव भी अनेक मतों में बँट गए। उन सबके अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्त, विचार और धारणाएँ बन गई थीं। इन्हीं से उत्पन्न भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में विद्वान उलझ गए। परस्पर भेद-भावना बढ़ गई। भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की पूजा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आगम एवं तंत्र-ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। विचारभेद के अनुसार समाज में भी अनेक परिवर्तन हो गए। प्राचीन वैदिक धर्म में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा। परमात्मा के भिन्न-भिन्न नामों को देवता मानकर उनकी पृथक्-पृथक् उपासना आरम्भ हो गई थी। ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों और देवताओं की पत्नियों की भी पूजा होने लगी। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, बाराही, नरसिंही और ऐंद्री- इन सात शक्तियों को मातृका को नाम दिया गया। काली, कराली, चामुण्डा और चण्डी नामक भयंकर और रुद्र शक्तियों की भी कल्पना की गई। आनन्द भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी और ललिता आदि विषय-विलासपरक शक्तियों की भी कल्पना की गई। उनके उपासक शाक्त, शिव और त्रिपुरसुन्दरी के योग से ही संसार की उत्पत्ति मानते थे। वैदिक ज्ञान के मन्द पड़ जाने पर पुराणों का प्रचार हुआ। पौराणिक संस्कारों का प्रचलन चल पड़ा। पौराणिक देवताओं की पूजा बढ़ गई। यज्ञ कम हो गए, श्राद्ध-तर्पण बढ़ गया। मन्दिरों और मठों का निर्माण बढ़ता गया। व्रतों,

प्रायश्चितों का विधान स्मृतियों में होने लगा। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी देवता की पूजा कर सकता था। सभी देवता ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतिनिधि थे। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था, तो दूसरा परम शैव, तीसरा भगवती का उपासक, चौथा परम आदित्य-भक्त।[12] जैनाचार्यों ने माता-पिता के विभिन्न धर्मावलम्बी होने पर भी उनके आदर-सत्कार का स्पष्ट उपदेश दिया है। तेरहवीं शती से पूर्व देव-देवताओं की मूर्तियाँ प्राय: भिन्न-भिन्न भावों के मूर्त्त प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित थीं। साधारण जनता में यह मूर्ति-पूजा जड़-पूजा में परिणत हो गई। मुसलमानों की धर्मान्धता ज्यों-ज्यों मूर्तियों को तोड़ने में अग्रसर हुई त्यों-त्यों मूर्तियों की रक्षा की भावना भी जड़ पकड़ती गई। पूजा में आडम्बर आ गया। कर्मकाण्ड का जंजाल खड़ा हो गया। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध देश में एक लहर चली जिसके प्रवर्त्तक मुख्यत: सन्त थे। इन्होंने धर्म के इस क्रिया-कलाप और बाह्यरूप की अपेक्षा भक्तिभावपरक आन्तरिक रूप पर बल दिया। इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय ने भी यही किया। इन सन्तों ने भक्ति के लिए जातिभेद की संकीर्णता से ऊपर उठकर धर्म के मार्ग को प्रशस्त किया। आठवीं शती की शुरूआत में ही अरबी भारत में प्रविष्ट हो गए। दसवीं शती तक वे सिन्ध और मुल्तान से आगे न बढ़ पाये किन्तु ग्यारहवीं शती के आरम्भ में ही लाहौर में भी मुस्लिम राज्य स्थापित हो गया। सूफियों का हिन्दी पर प्रभाव मुस्लिम संस्कृति के भारत में प्रवेश होने से ही पड़ा। बारहवीं शती के आक्रमणों और मन्दिरों को लूटने का जो परिणाम हुआ उसका प्रभाव हिन्दू सन्तों पर भी पड़ा। इस्लाम की प्रतिष्ठा हो जाने पर अनेक हिन्दू-मुस्लिम सन्त ऐसे थे जिन्होंने दोनों के भेदभाव को मिटाने का सत्प्रयास किया।

सामाजिक परिस्थिति

सामाजिक स्थिति में परिवर्तन तीव्रता से हो रहा था। जातीय धर्म का प्रचलन था। ब्राह्मण और किसान भी सेना में भरती होते थे। ऊँची जाति के लोगों में सदाचार उच्चस्तर का था। उच्च कुल की स्त्रियाँ शासन में भाग लेती थी। दक्षिण के राजघरानों की स्त्रियाँ संगीत और नृत्य में अधिक कुशल थीं। वे सार्वजनिक प्रदर्शन में भी भाग लेती थीं। राजकुमारियों को साहित्य और ललित कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। इस युग में राज्य-सेवा की अपेक्षा व्यापारी या किसान होना प्रतिष्ठा का प्रसंग होता था।[13] प्रत्येक वर्ग अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त हो जाने से भेद-भाव निरन्तर बढ़ रहा था। फलत: समस्त जातियाँ शिथिल हो जाने के कारण मुसलमान आक्रान्ताओं का सामना न कर सकीं। प्रधानत: प्रत्येक वर्ग स्मृति-प्रतिपादित धर्म का ही अनुष्ठान करता था किन्तु ब्राह्मण अपने पुरोहित कर्म के अतिरिक्त अन्य वर्णों के पेशे को भी स्वीकार करता था और क्षत्रिय भी अपने कर्त्तव्य के साथ-साथ शास्त्रचिन्तन में लीन था। अनेक राजपूत शासक अपने बल-पराक्रम के साथ-साथ विद्या और पाण्डित्य में भी विख्यात हुए। अनेक राजाओं ने शस्त्र और शास्त्र दोनों में समान रूप से अपनी प्रतिभा का लोहा मनवाया। भोज, गोविन्दचन्द्र, बल्लालसेन, लक्ष्मणसेन,

राजेन्द्र चोल आदि अनेक राजा इसके निदर्शन हैं। कृषि-कर्म प्रारम्भ में वैश्यों का ही कार्य था किन्तु अनेक वैश्य बौद्ध और जैन धर्म के प्रभाव के कारण इस कर्म को हिंसायुक्त और पापमय समझकर छोड़ बैठे थे। यह कर्म भी शूद्रों को करना पड़ा। किन्तु नवमी-दसवीं शती में कृषि-कर्म का विधान ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए भी होने लग गया था किन्तु खान-पान, छुआ-छूत, अन्तरजातीय विवाह आदि की प्रथाओं में धीरे-धीरे कट्टरता आने लगी और भेद-भाव बढ़ता गया। बाल-विवाह विशेषकर कन्याओं का बाल्यावस्था में विवाह भी प्रारम्भ हो गया।[14] इस काल के राजाओं और धनाढ्यों में बहु-पत्नी विवाह की प्रथा प्रचलित थी जैसाकि अनेक ग्रन्थों से सिद्ध होता है। इस प्रकार चौदहवीं-पन्द्रहवीं शती तक राजनीति जीवन के साथ-साथ भारतीयों का सामाजिक जीवन भी जीर्ण-शीर्ण हो गया था। यद्यपि समाज का ढाँचा इस प्रकार शिथिल हो गया था तथापि उसमें बाह्य प्रभाव से आक्रान्त न होकर अपनी सत्ता बनाए रखने की क्षमता आंशिक रूप में विद्यमान रही। समाज ने दृढ़तापूर्वक विदेशियों की सभ्यता और संस्कृति का सामना किया।

साहित्यिक परिस्थिति

ज्ञान, कला और साहित्य का उन्नत रूप गुप्तयुग में था। दर्शन, गणित, ज्योतिष, काव्य-साहित्य सभी अंगों में भारतीयों ने गुप्तयुग में जो उन्नति की उसका क्रम एक-दो शती बाद तक चलता रहा। नालन्दा और विक्रमशिला के बिहार ज्ञान के प्रसिद्ध केन्द्र थे। कन्नौज भी वैदिक और पौराणिक शिक्षा का केन्द्र था। धीरे-धीरे ज्ञान-सरिता का प्रवाह कुछ मन्द हो गया। अलंकारों के आधिक्य से काव्यों में वह स्वाभाविकता और वह ओज न रहा। भाष्यों और टीका-टिप्पणियों के बाहुल्य से मौलिकता का सर्वथा अभाव हो गया। ग्यारहवीं-बारहवीं शती में कश्मीर और काशी ही नहीं बंगाल में नदिया, दक्षिण भारत में तंजौर और महाराष्ट्र में कल्याण भी विद्या के केन्द्रों के लिए प्रसिद्ध हो गए थे। कन्नौज और उज्जैन भी पूर्ववत् विद्या-केन्द्र बने हुए थे। अलंकारशास्त्र, दर्शन, धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक और संगीत आदि विषय ज्ञान के क्षेत्र थे। इस काल में काव्य प्रकाश, सिद्धान्त शिरोमणि, नैषधचरित, गीत-गोविन्द, राजतंरगिणी जैसे अनेक ग्रन्थ प्रसूत हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश में भी ग्रन्थों की सर्जना हो रही थी। बंगाल में चौरासी सिद्धों ने अपभ्रंश में रचनाएँ की। पालवंशी बौद्ध थे। उन्होंने लोकभाषा को प्रोत्साहित किया। स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे अपभ्रंश भाषा के क्रान्तिदर्शी कवियों ने भी राष्ट्रकूट राजाओं के आश्रय में अपभ्रंश साहित्य को वर्द्धित किया। मुंज और भोज प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंशप्रेमी भी थे। अपभ्रंश के रचयिताओं ने संस्कृत काव्यों का स्वाध्याय किया था। बाण की श्लेष शैली पुष्पदन्त में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। स्वयंभू ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है। जैनाचार्यों ने अधिकांश ग्रन्थ श्रावकों के आग्रह पर ही रचे हैं। श्रावकों की भाषा बोलचाल की भाषा होती थी।[16] अतएव जैनाचार्य तत्कालीन लोकभाषा अपभ्रंश में ही

साहित्य की सर्जना करते थे। इस प्रकार जैन, बौद्ध, हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमानों ने भी अपभ्रंश में रचना की।

समग्रत: धार्मिक और पौराणिक होते हुए भी अपभ्रंश साहित्य अपनी युगचेतना से एकदम अछूता नहीं है। इनके कथानायकों में अपने युग के शासकों के स्वभाव, रुचि, रीति-नीति, विद्यानुराग और धार्मिक मनोवृत्ति लक्षित की जा सकती है।

---

1. राइस डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ 96
2. अम्बादत्त पन्त, अपभ्रंश काव्यपरम्परा और विद्यापति, पृष्ठ 133
3. वरदाचारी, हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, भाग एक
4. जयचन्द्र विद्यालंकार, इतिहासप्रवेश, पृष्ठ 178
5. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 27
6. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ 105
7. राहुल, पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ 139
8. अम्बादत्त पन्त, अपभ्रंश काव्यपरम्परा और विद्यापति, पृष्ठ 138
9. जुगमन्दिरलाल जैनी, आउटलाइन्स ऑफ जैनिज़्म, पृष्ठ 7-26
10. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 257
11. *हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृष्ठ 29*
12. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 27
13. देवेन्द्रकुमार जैन, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, पृष्ठ 51
14. सी.वी. वैद्य, हिस्ट्री ऑफ़ मिडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग 2, पृष्ठ 18
15. आदित्य प्रचण्डिया, अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, पृष्ठ 42-43
16. अलका प्रचण्डिया, अपभ्रंश काव्य की लोकोक्तियों और मुहावरों का हिन्दी पर प्रभाव, पृष्ठ 15-16

मंगल कलश
394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड
अलीगढ़ - 202 001 (उत्तरप्रदेश)

जत्थ सरिसुप्पलाइं

जत्थं सत्थ-विच्छुलाइं ।
मच्छ- कच्छ-विच्छुलाइं ।।
रायहंस - सोहियाइं ।
मत्तहत्थि - डोहियाइं ।।
भीतरंग - भंगुराइं ।
तारहार - पंडुराइं ।।
पउमिणी - करंबियाइं ।
चंचरीय - चुंबियाइं ।।
मारुप्प (आय) वेवियाइं ।
चक्कवाय - सेवियाइं ।।
णक्क-गाह-माणियाइं ।
एरिसाइं पाणियांइ ।।
सेयणील - लोहियाइं ।
सूररासि - बोहियाइं ।।
मत्त छप्पयाउलाइं ।
जत्थ सरिसुप्पलाइं ।।

रिट्ठणेमिचरिउ 2.2.

- जिस (सरोवर) में जल प्राणी-समूह से आपूरित है, जो मत्स्यों और कछुओं से व्याप्त है, राजहंसों से शोभित है, मतवाले हाथियों से आन्दोलित है, भयंकर लहरों से वक्र है, स्वच्छ हार की तरह धवल है, कमलिनियों से अंचित है, भ्रमरों से चुम्बित है, हवाओं से कम्पित है, चक्रवाकों से सेवित है, मगरों और ग्राहों के द्वारा सम्मानित है। इस प्रकार के सरोवर के जल में श्वेत, नीले और लाल, सूर्य की किरणों से विकसित, मतवाले भ्रमरों से आकुल सरस कमल थे।

अनु. - डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

'पउमचरिउ' तथा 'रामचरितमानस' की प्रमुख घटनाओं का तुलनात्मक विवेचन

- डॉ. मंजु शुक्ल

■

मंगलाचरण

अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयंभू-कृत 'पउमचरिउ' तथा हिन्दी भाषा के महाकवि तुलसीकृत 'रामचरितमानस' की प्रमुख घटनाओं के तुलनात्मक विवेचन की शृंखला में सबसे पहले दोनों महाकाव्यों की प्रारम्भिक पंक्तियों अर्थात् मंगलाचरण का उल्लेख आवश्यक है। 'पउमचरिउ' में मात्र प्रारम्भ में ही ऋषभजिन[1] तथा चौबीस तीर्थंकरों की अभ्यर्थना की गई है[2] परन्तु 'रामचरितमानस' में न केवल प्रारम्भ में मंगलाचरण वर्णित किया गया है वरन् प्रत्येक काण्ड अर्थात् सातों काण्डों के प्रारम्भ में मंगलाचरण से किया गया है। वह भी पृथक्-पृथक् विधियों से जो 'मानस' की प्रभविष्णुता में वृद्धि करता है।[3]

दशरथ की रानियाँ तथा पुत्रों का उल्लेख

'पउमचरिउ' के अनुसार राजा दशरथ की चार रानियाँ थीं- अपराजिता, सुमित्रा, कैकेयी तथा सुप्रभा जिनसे क्रमशः राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न उत्पन्न हुए।

'मानस' में राजा दशरथ की तीन रानियों का उल्लेख मिलता है-कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी। इनमें से राम कौशल्या के पुत्र, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न सुमित्रा के तथा भरत कैकेयी के पुत्र थे।

यहाँ पर दशरथ की रानियों के नाम तथा संख्या दोनों में ही भेद दिखाई देता है।

'पउमचरिउ' के अनुसार जहाँ राजा दशरथ की चार रानियाँ थी तथा उन सभी से एक-एक पुत्र उत्पन्न था वहीं 'मानस' के अनुसार दशरथ की तीन रानियाँ थीं जिनमें दो रानियों के एक-एक पुत्र तथा एक रानी के दो पुत्र होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

सीता-उत्पत्ति आख्यान

'पउमचरिउ' के अनुसार राजा जनक के सीता नामक पुत्री तथा भामण्डल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ परन्तु 'मानस' में प्रारम्भ में कहीं भी सीता-जन्म का उल्लेख नहीं मिलता है और न ही कहीं सीता के भाई का उल्लेख किया गया है। 'पउमचरिउ' में सीता की कथा उनके जन्म से प्रारम्भ होती है परन्तु मानस में सीता की कथा पुष्पवाटिका से प्रारम्भ होती है। वहीं राम को उनका प्रथम दर्शन होता है तथा उसके उपरान्त ही सीता तथा राम का स्वयंवर होता है।

राम के वन-गमन के समय भरत की स्थिति

'पउमचरिउ' के अनुसार राम के राज्याभिषेक तथा राम के वनगमन के समय भरत अयोध्या में ही थे, उनकी उपस्थिति में ही राम वनवास को गये। परन्तु 'मानस' में राम के वनगमन के समय भरत अपने ननिहाल में थे, राम के वन-प्रस्थान के उपरान्त उनका अयोध्या आगमन होता है। परन्तु एक तथ्य दोनों में ही समान है- भरत का दशरथ तथा कैकेयी के प्रति विरोध तथा उनकी राम में अनन्य भक्ति एवं अनुपम अनुराग।

राम के वनवास की अवधि

'पउमचरिउ' में राम के वनवास की अवधि सोलह वर्ष है तथा 'मानस' में यह अवधि चौदह वर्ष है।

राम के वनगमन के उपरान्त दशरथ की स्थिति

'पउमचरिउ' के अनुसार राम के वन- गमन के उपरान्त दशरथ दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं परन्तु 'मानस' के अनुसार राम-वनगमन के उपरान्त शोकातुर दशरथ मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

वन-मार्ग का तुलनात्मक अध्ययन

'पउमचरिउ' के अनुसार राम-वनगमन के प्रसंग में वन-मार्ग इस प्रकार था- अयोध्या से प्रस्थान करके राम तथा सीता लक्ष्मणसहित गम्भीर नदी पार करते हैं, वहाँ से दक्षिण की ओर प्रस्थान करते हैं, यहीं मध्य में राम की भरत तथा कैकेयी से भेंट होती है। स्वयंभू उस स्थान विशेष का नामोल्लेख नहीं करते हैं, उस स्थान विशेष के सम्बन्ध में मात्र इतना उल्लेख किया गया है कि वहाँ एक सरोवर व लतागृह था। वहाँ से राम भरत को अयोध्या भेजकर तापस वन, धानुष्क वन तथा भील बस्ती से होते हुए दो माह चित्रकूट में रहने के उपरान्त दशपुर नगर में प्रवेश करते हैं। तदुपरान्त नलकूबर नगर से विंध्यगिरि की ओर प्रस्थान

करते हैं। उसके पश्चात् नर्मदा तथा ताप्ती नदी पार करके दण्डक वन से क्रोंच नदी पार करके वंशस्थल नगर की सीमा में प्रवेश करते हैं। स्वयंभू द्वारा वर्णित वनमार्ग को देखने से एक तथ्य स्पष्ट होता है कि स्वयंभू की दृष्टि दक्षिण की ओर ही केन्द्रित रही है। उन्होंने वनमार्ग में गंगा जैसी प्रचलित नदी का उल्लेख तक नहीं किया है।

'मानस' में वन-मात्रा का मार्ग 'आदिरामायण' के अनुसार वर्णित किया गया है, अयोध्या से राम-सीता का लक्ष्मणसहित शृंगवेरपुर पहुँचना, वहाँ निषाद से भेंट करके गंगा नदी पार करके प्रयाग पहुँचना। भरद्वाज से भेंट करके यमुना-पार पहुँचना, तत्पश्चात् चित्रकूट पहुँचना, वहाँ से दण्डक वन में प्रवेश, तदुपरान्त पंचवटी पहुँचकर गोदावरी के समीप निवास। उसके बाद ऋष्यमूक पर्वत तथा पम्पासरोवर का उल्लेख प्राप्त होता है। तत्पश्चात् माल्यवान् पर्वत का वर्णन किया गया है जहाँ राम सीता के वियोग में वर्षा ऋतु व्यतीत करते हैं। हनुमान के लंका से वापस आने के उपरान्त राम सेनासहित सुबेल पर्वत पर निवास करते हैं। वहाँ श्रीरामेश्वर की स्थापना के उपरान्त समुद्र पर सेतु बाँधकर लंका में प्रवेश करते हैं।

शम्बूककुमार प्रसंग

रावण की बहन तथा पाताललंका के राजा खर की पत्नी चन्द्रनखा का पुत्र शम्बूककुमार 'सूर्यहास खड्ग' की प्राप्ति हेतु तपस्या कर रहा था। अकस्मात् अनजाने में ही लक्ष्मण के हाथों उसकी मृत्यु हो जाती है। 'पउमचरिउ' में शम्बूक का वध करने का लक्ष्मण का कोई प्रयोजन नहीं था। शम्बूक-वध का उल्लेख वाल्मीकि तथा भवभूति ने भी अपनी-अपनी राम-कथाओं में किया है परन्तु किंचित् भिन्नता के साथ। 'वाल्मीकि रामायण' में राम शम्बूक का वध मात्र इसलिये करते हैं क्योंकि वह शूद्र-पुत्र होते हुए भी तपस्या कर रहा था। वाल्मीकि के राम के मन में शम्बूक को वध करते समय किसी भी प्रकार का करुण भाव नहीं था परन्तु भवभूति के राम के मन में एक बार करुण भाव जाग्रत होता है। यहाँ पर 'पउमचरिउ' तथा 'वाल्मीकि रामायण' एवं भवभूति रामायण में किंचित् भिन्नताओं के अतिरिक्त मुख्य अन्तर यह है कि 'पउमचरिउ' में जहाँ शम्बूक का वध लक्ष्मण द्वारा होता है वहीं इन दोनों रामकाव्यों में राम द्वारा होता है। परन्तु 'मानस' में शम्बूक-वध प्रसंग का कहीं भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

माया-सीता का प्रसंग

'रामचरितमानस' में शूर्पनखा-प्रसंग के उपरान्त यह उल्लेख आता है कि[4] राम सीता से कहते हैं कि मैं अब कुछ मनोहर मनुष्य-लीला करूँगा। इसलिये जब तक मैं राक्षसों का नाश करूँ तब तक तुम अग्नि में निवास करो, यह सुनकर सीता राम के चरणों में मस्तक नवाकर अग्नि में समा गयीं। सीता ने अपने ही गुणों से युक्त एक प्रतिमूर्ति वहाँ रख दी, इस रहस्य से लक्ष्मण भी परिचित नहीं हो सके, क्योंकि उस समय वहाँ लक्ष्मण नहीं थे।

'पउमचरिउ' में इस प्रकार के माया-सीता का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

मारीच-प्रसंग

'मानस' में मारीच का प्रसंग एक राक्षस के रूप में हुआ है जिससे रावण सीताहरण में सहायता लेने हेतु भेंट करता है। माया-मृग का रूप धारण करके तथा सिंहनाद करके वह अपना कार्य पूर्ण करता है परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'मानस' में मारीच राम के अलौकिक रूप से पूर्ण परिचित है, वह रावण को समझाता भी है परन्तु रावण के हठ को देखकर भय तथा विवश होकर वह माया-मृग बनता है, उसने विचार किया कि मना करने पर रावण उसका वध कर देगा। रावण के हाथों मरने से अच्छा है कि राम के हाथों से ही मृत्यु को प्राप्त करूँ! अन्ततः वह श्रद्धासहित राम का स्मरण करके मृत्युगति को प्राप्त होता है। वह अन्त समय राम के समक्ष अपना राक्षसी रूप प्रकट करता है तथा उनका स्मरण करता है। राम उसके हार्दिक प्रेम को पहचानकर उसे वह परमपद प्रदान करते हैं जो मुनियों को भी दुर्लभ हैं।

'पउमचरिउ' में यही वर्णन किंचित् परिवर्तित रूप में प्राप्त होता है। इसमें मारीच शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है वरन् सीता को देखने के उपरान्त रावण उन्मादित होकर अवलोकिनी विद्या का ध्यान करता है। अवलोकिनी विद्या को प्रकट होने पर रावण उससे सीताहरण में सहायता माँगता है, इस पर अवलोकिनी विद्या उसे भविष्य हेतु सचेत करती है और इस कार्य हेतु मना करती है कि सीताहरण प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक है परन्तु रावण इतना उन्मादित है कि उसे सीता की तुलना में स्वयं का, लंका का विनाश स्वीकार है। रावण के शब्द द्रष्टव्य हैं- यही एक मनुष्यनी स्त्री है जो यदि एक मुहूर्त के लिए जिला देती है तो उस शिव (मोक्ष) के शाश्वत सुख की तुलना में मेरे लिए यही बहुत है।[5] रावण के विषयासक्त चित्त को पहचानकर अवलोकिनी विद्या रावण को संकेत करती है कि सिंहनाद का संकेत सुनकर राम लक्ष्मण की सहायतार्थ, जो खर-दूषण के साथ युद्धरत हैं, चले जायेंगे, उस समय सीताहरण किया जा सकता है। इस प्रकार पउमचरिउ में सीताहरण में अवलोकिनी विद्या सहायता करती है उसी प्रकार मानस में मारीच। दोनों का कार्य एक है किन्तु नाम तथा रूप में अन्तर है।

रावण द्वारा सीताहरण के उपरान्त सीता को वन में रखना

पउमचरिउ के अनुसार रावण सीता को नन्दनवन में रखता है। मानस में रावण सीता को अशोक वन में रखता है।

शबरी-प्रसंग तथा नवधा-भक्ति उपदेश

मानस में राम जब सीता की खोज हेतु जाते हैं तो मार्ग में शबरी का आश्रम पड़ता है। राम शबरी का उद्धार करते हैं तथा उसे नवधा-भक्ति का उपदेश देते हैं। नवधा-भक्ति[6] संक्षेप में इस प्रकार है -

1. सन्तों का सत्संग।
2. मेरे कथा-प्रसंग में प्रेम।
3. अभिमानरहित होकर गुरु के चरणकमलों की सेवा।
4. कपट छोड़कर मेरे गुणसमूहों का गान करना।
5. मेरे (राम) मंत्र का जाप तथा मुझ में दृढ़ विश्वास।
6. इन्द्रियों का निग्रह, शील (अच्छा स्वभाव या चरित्र)।
7. बहुत कार्यों से वैराग्य।
8. निरन्तर सन्त पुरुषों के धर्म (आचरण) में लगे रहना।
9. सम्पूर्ण जगत् को समभाव से मुझ में ओतप्रोत देखना। यही नवधा-भक्ति है। पउमचरिउ में यह प्रसंग नहीं है।

लक्ष्मण को शक्ति लगना

पउमचरिउ में यह प्रसंग छियासठवीं सन्धि से उनहत्तरवीं सन्धि तक वर्णित किया गया है। पउमचरिउ में लक्ष्मण को आहत करने हेतु रावण शक्ति का प्रयोग करता है। मानस में मेघनाद द्वारा प्रयुक्त वीरघातिनी शक्ति से लक्ष्मण आहत होते हैं। पउमचरिउ में लक्ष्मण के उपचार का उपाय राजा प्रतिचन्द्र बताते हैं कि राजा द्रोणघन की पुत्री विशल्या के स्नान के जल से लक्ष्मण ठीक हो सकते हैं। मानस में जाम्बवान् लक्ष्मण के उपचार हेतु लंका के वैद्य सुषेण का परिचय देते हैं।

मानस में जहाँ संजीवनी बूटी लाने हेतु मात्र हनुमान जाते हैं वहीं पउमचरिउ में विशल्या को लाने हेतु हनुमान, अंगद तथा भामण्डल जाते हैं। मानस में मार्ग में हनुमान की मात्र भरत से संक्षिप्त भेंट तथा वार्ता होती है; पउमचरिउ में हनुमान, अंगद तथा भामण्डल की भरत, दशरथ की समस्त रानियों, द्रोणघन इत्यादि से भेंटवार्ता होती है। पउमचरिउ में लक्ष्मण विशल्या के स्नान के जल से अपनी चेतनावस्था को प्राप्त करते हैं। लक्ष्मण की विशल्या में आसक्ति देखकर उनका विशल्या के साथ पाणिग्रहण कर दिया जाता है। मानस में लक्ष्मण संजीवनी बूटी से चेतन हो पाते हैं।

रावण द्वारा सन्धि हेतु राम के पास दूत भेजना

विशल्या के स्नान के जल से लक्ष्मण के चेतन होने का समाचार सुनकर निशाचर-पक्ष में खलबली मच जाती है। मन्दोदरी पुन: रावण को समझाती है कि यदि स्वयं का तथा राज्य का हित चाहते हो तो सीता को वापस कर दो। रावण सोचता है कि जब शत्रुसेना युद्ध हेतु तत्पर है, जब शम्बूकुमार का वध कर दिया गया, चन्द्रनखा तथा कूबर का अपमान हुआ,

आशाली विद्या नष्ट हो गयी, विभीषण भी चला गया है, इन्द्रजीत तथा भानुकर्ण बन्दीगृह में हैं, नन्दनवन उजड़ गया, क्या इन परिस्थितियों के उपरान्त सन्धि का प्रस्ताव उचित होगा ?

तब रावण मन्दोदरी से कहता है कि इतना सब-कुछ होने पर भी मैं तुम्हारी इच्छा का अपमान नहीं करना चाहता। मैं सन्धि एक शर्त पर कर सकता हूँ- 'राम राज्य, रत्न, कोष सब कुछ ले लें बदले में तुम्हें, मुझे और सीता को छोड़ दें।'

यह प्रस्ताव सुनकर मन्दोदरी कहती है कि 'कौन जान सकता है कि राम धरती लेकर जानकी को दे देंगे!'

रावण का यह प्रस्ताव लेकर दूत प्रस्थान करता है। वहाँ राम उसे प्रेमपूर्वक आसन देते हैं, प्रस्ताव को सुनकर राम कहते हैं कि मुझे मात्र सीता चाहिये बाकी सब कुछ रावण रख लें। इस पर दूत अत्यन्त अशोभन वचन कहता है, जिससे सैनिक उसे अपमानित करके निष्कासित कर देते हैं। मानस में लक्ष्मण के चेतन होने के उपरान्त यह प्रसंग नहीं आया है कि रावण सन्धि हेतु किसी दूत को राम के पास भेजते हैं।[7]

रावण द्वारा आयोजित यज्ञ का वर्णन

पउमचरिउ में इकहत्तरवीं तथा बहत्तरवीं सन्धि में रावण की आराधना का वर्णन किया गया है जो वह बहुरूपिणी विद्या की प्राप्ति हेतु कर रहा था। पउमचरिउ के अनुसार रावण अंग तथा अंगद के व्यवधान उत्पन्न करने के उपरान्त भी बहुरूपिणी विद्या को प्राप्त करता है।[8]

रामचरितमानस के लंकाकाण्ड में भी एक प्रसंग आया है जिसमें रावण युद्ध के उपरान्त कुछ यज्ञ करता है, विभीषण यह समाचार राम को जाकर देता है तथा साथ ही यह सलाह भी देता है कि वानर योद्धाओं को भेजकर यज्ञ का विध्वंस कराइये अन्यथा यज्ञ सिद्ध हो जाने पर रावण को मारना दुष्कर होगा। तब वानर जाकर उसके यज्ञ में व्यवधान उत्पन्न करते हैं तथा अन्ततः यज्ञ विध्वंस कर डालते हैं। यहाँ पर पउमचरिउ तथा मानस में यह अन्तर है कि मानस में यह वर्णन पउमचरिउ के समान विस्तारपूर्वक नहीं वर्णित किया गया है।

द्वितीय, पउमचरिउ में रावण किसी भी परिस्थिति से विचलित नहीं होता है तथा अन्ततः बहुरूपिणी विद्या को प्राप्त करने में सफल हो जाता है परन्तु मानस में रावण वानरों के उत्पात से क्रुद्ध होकर यज्ञ के मध्य से ही उठकर वानरों को मारने लगता है और वानर यज्ञ विध्वंस कर देते है।[9]

रावण-वध

पउमचरिउ के अन्तिम काण्ड, युद्धकाण्ड की प्रारम्भिक अर्थात् पचहत्तरवीं सन्धि में रावण-वध का उल्लेख किया गया है। पउमचरिउ में लक्ष्मण तथा रावण का घमासान युद्ध

दिखाया गया है। रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या के कारण लक्ष्मण बार-बार भ्रमित होते हैं, अन्ततः लक्ष्मण अपने हाथ में चक्र ले लेते हैं तब रावण लक्ष्मण को प्रहार हेतु ललकारता है। लक्ष्मण रावण के ललकारने से क्रुद्ध होकर उस पर चक्र से आघात करते हैं, जिससे रावण मृत्यु को प्राप्त होता है।[10] मानस में रावण का वध राम करते हैं।[11] यहाँ पर एक अन्य तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पउमचरिउ में जब लक्ष्मण व रावण का युद्ध हो रहा था उस समय विभीषण यह चिन्तन करके आशंकित होता है कि 'आज लंका नगरी मिट जायेगी, रावण मारा जायेगा, सन्तति नष्ट हुई, मन्दोदरी, वैभव तथा राज्य सब कुछ नष्ट हो जायेगा'। विभीषण को आशंकित तथा चिन्तित देखकर ही लक्ष्मण कहते हैं कि धैर्य रखो, सीता अर्पित करने पर रावण को क्षमा कर दूँगा।[12] मानस में ऐसा कोई प्रसंग नहीं मिलता है जिसमें रावण-वध के पूर्व विभीषण इस प्रकार लंका तथा रावण हेतु चिन्तित हो वरन् मानस में स्वयं विभीषण राम को बताता है कि रावण के नाभि में तीर मारने पर ही उसकी मृत्यु होगी।[13]

सीता-निर्वासन प्रसंग

पउमचरिउ में सीता-निर्वासन का प्रसंग उत्तरकाण्ड की इक्यासीवीं सन्धि में किया गया है। इक्यासीवीं सन्धि के प्रारम्भ से ही इस प्रसंग की पृष्ठ-भूमि का वर्णन किया गया है।[14] स्वयंभू का इस सम्बन्ध में मत है कि राम द्वारा सीता को निर्वासन किये जाने का मुख्य कारण लोकापवाद था। सीता राम से स्वयं द्वारा देखे गये एक स्वप्न का अर्थ पूछती हैं, राम बताते हैं कि वे शीघ्र दो पुत्रों को जन्म देंगी। राम सीता से उनकी मनोकामना पूछते हैं, सीता जिन भगवान् की अभ्यर्थना की इच्छा प्रकट करती हैं, राम नन्दनवन में सीता के साथ परमजिन की आराधना करते हैं, उसी समय प्रजाजन वहाँ आकर राम से कहते हैं- हे परम परमेश्वर राम, आप रघुकुलरूपी पवित्र आकाश में चन्द्रमा के समान हैं फिर भी यदि आप स्वयं इस अपराध का अपने मन में विचार नहीं करते तो यह अयोध्या नगर आपसे निवेदन करना चाहेगा। खोटी स्त्रियाँ उन्मुक्त रूप से परपुरुषों के साथ रमण कर रही हैं और पूछने पर उनका उत्तर होता है कि क्या सीतादेवी वर्षों तक रावण के घर पर नहीं रहीं ? और आने के पश्चात् क्या राम ने सीतादेवी का उपभोग नहीं किया ?[15] राम यह सुनकर विचारमग्न हो जाते हैं और सामाजिकों के व्यवहार तथा मानसिकता के बार में सोचते हैं। प्रजाजनों की बातें सुनकर राम दुःखी होते हैं, लक्ष्मण क्रोधित हो जाते हैं। लक्ष्मण कहते हैं कि जिस प्रकार मैंने युद्धस्थल में खर तथा रावण का वध किया वही हाल मैं सीता की निन्दा करनेवालों का करूँगा परन्तु राम लक्ष्मण को शान्त करके कहते हैं कि 'हे भाई ! तुम इसे दूर करो, जनकतनया को कहीं भी वन में छोड़ आओ, चाहे वह मरे या जिये, उससे अब क्या ? क्या दिनमणि के साथ रात रह सकती है ? रघुकुल में कलंक मत लगने दो, त्रिभुवन में कहीं अयश का डंका न पिट जाये,[16] यह सुनकर लक्ष्मण निरुत्तर हो जाते हैं। सारथि दुःखी मन से सीता को वन में छोड़ आता है। सारथि वन में सीता से कहते हैं - 'हे देवी, राम ही जान सकते हैं, इसमें मेरा दोष नहीं है।

हलाहल-विष पी लेना अच्छा, परन्तु ऐसे सेवाधर्म का पालन करना अच्छा नहीं जिसमें दूसरों की आज्ञाओं का दुखदायी पात्र बनना पड़ता है।'[17] यह कहकर सारथि अत्यन्त दु:खी मन से वापस चला जाता है।

सीता इस निर्वासन के दु:ख को सहन न कर सकीं और करुण विलाप करने लगीं, सीता आर्त्त स्वर में कहती हैं - 'संसार में कुछ भी बन जाना अच्छा है परन्तु कोई स्त्री मेरे समान अभाग्य, निराशा और दु:ख की पात्र न बने।'[18] स्वयंभू ने सीता निर्वासन का प्रसंग अत्यन्त करुण भाव से अभिव्यंजित किया है। तुलसीदास के 'मानस' में इस प्रसंग का अभाव परिलक्षित होता है।

सीता की अग्नि-परीक्षा का प्रसंग

'पउमचरिउ' की तेरासीवीं सन्धि में सीता की अग्नि-परीक्षा का प्रसंग वर्णित किया गया है। जब विभीषण, अंगद, सुग्रीव तथा हनुमान् प्रभृति पुष्पक विमान से सीता को अयोध्या ले जाने हेतु आते हैं तो सीता कहती हैं कि जिस राम ने मुझे बियावान जंगल में निर्वासित किया, उसकी जलन सैकड़ों मेघों की वर्षा से भी शान्त नहीं हो सकती। फिर भी आप लोगों का यदि अनुरोध है तो मैं चलती हूँ।[19]

सीता गोधूलि वेला में कौशलनगरी पहुँचती हैं तथा उसी उपवन में जाकर बैठ जाती हैं जहाँ उन्हें निर्वासन दिया गया था। प्रात:काल होने पर राम ने सीता के कान्तिमान मुखमण्डल को देखकर कहा कि स्त्री चाहे कितनी ही कुलीन और अनिन्द्य हो वह अत्यन्त निर्लज्ज होती है। भय से वे अपने कटाक्ष तिरछे दिखाती हैं परन्तु उनकी मति कुटिल होती है तथा उनका अहंकार बढ़ा होता है। बाहर से ढीठ होती हैं तथा गुणों से रहित। उनके सौ टुकड़े भी कर दिये जायें फिर भी हीन नहीं होतीं। अपने कुल में दाग़ लगाने से नहीं झिझकतीं और न इस बात से कि त्रिभुवन में उनके अयश का डंका बज सकता है। अंग समेटकर धिक्कारनेवाले पति को कैसे अपना मुख दिखाती हैं![20] राम के सीता के प्रति उपर्युक्त वचन अत्यन्त निन्दनीय हैं, यहाँ पर राम के वचनों में मात्र पुरुषत्व का अहं अभिव्यक्त हो रहा है।

राम के स्त्री के प्रति इन उपर्युक्त वचनों को सुनकर सीता नर-नारी में भेद स्पष्ट करते हुए कहती हैं कि - 'आदमी चाहे कमज़ोर हो या गुणवान्, स्त्रियाँ मरते दम तक उसका परित्याग नहीं करतीं। पवित्र और कुलीन नर्मदा नदी, रेत, लकड़ी और पानी बहाती हुई समुद्र के पास जाती है फिर भी वह उसे खारा पानी देने से नहीं अघाता। नर और नारी में यही अन्तर है कि मरते-मरते भी लता पेड़ का सहारा नहीं छोड़ती।'[21]

पउमचरिउ में राम सीता से सतीत्व प्रमाणित करने हेतु अग्नि-परीक्षा देने को नहीं कहते हैं वरन् सीता स्वयं अग्नि-परीक्षा का प्रस्ताव रखती हैं। जिस समय अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है उस समय बन्धु-बान्धव, प्रजाजन सभी रुदन करते हैं तथा राम को धिक्कारते हुए

कहते हैं- 'राम निष्ठुर, निराश, मायारत, अनर्थकारी और दुष्ट बुद्धि हैं। पता नहीं सीतादेवी को इस प्रकार होमकर वह कौन सी गति पायेंगे!'

अग्नि का वह कुण्ड भी सीता की पवित्रता के कारण मनोहर सरोवर में परिवर्तित हो गया। उस सरोवर के मध्य से ही एक सिंहासन निकला जिस पर सीता विराजमान थीं। इस अनन्तर राम सीता से क्षमायाचना करते हैं तथा उनसे वापस अपने नगर चलने हेतु कहते हैं[23] परन्तु सीता, जो अब स्नेह का परित्याग कर चुकी हैं, कहती हैं- 'हे राम, आप व्यर्थ विषाद न करें, इसमें न तो आपका दोष है, और न जनसमूह का, सैकड़ों जन्मों से धर्म का नाश करनेवाले खोटे कर्मों का यह सब दोष है। जो पुराना कर्म जीव के साथ लगा आया है उसे कौन नष्ट कर सकता है? हे राम, अबकी बार ऐसा कीजिए जिससे दुबारा नारी न बनूँ। मैं विषय-सुखों से अब ऊब चुकी हूँ। अब मैं जन्म, जरा और मरण का विनाश करूँगी। संसार से विरक्त होकर, अब अटल तपश्चरण अंगीकार करूँगी।' इस प्रकार कहकर, सीतादेवी ने अपने दायें हाथ से सिर के केश को उखाड़कर श्री राघवचन्द्र के सम्मुख डाल दिये। सीता का यह रूप देखकर राम मूर्च्छित होकर धरती पर गिर पड़े। वे किसी प्रकार चेतनावस्था में आयें उससे पूर्व ही सीता ने मुनि सर्वभूषण से दीक्षा ग्रहण कर ली।[24]

पउमचरिउ की तिरासीवीं सन्धि आद्योपान्त सीता के अग्नि-परीक्षा तथा दीक्षा-ग्रहण प्रसंग से सम्बन्धित है। पउमचरिउ में यह प्रसंग विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है।

रामचरितमानस में यद्यपि यह प्रसंग अभिव्यंजित अवश्य हुआ है परन्तु पउमचरिउ के प्रसंग से नितान्त भिन्न है। मानस में यह प्रसंग लंकाकाण्ड में संक्षेप में वर्णित किया गया है। जब अंगद, विभीषण तथा हनुमान् राम की आज्ञानुसार सीता को लेकर आते हैं उनके आगमन के साथ ही यह प्रसंग प्रारम्भ होता है। मानस में यह प्रसंग इस प्रकार वर्णित है- सीताजी के असली स्वरूप को, जो पहले अग्नि में प्रवेश करा दिया गया था, उसे अब भीतर के साक्षी भगवान् प्रकट करना चाहते थे। अत: राम ने लीला से कुछ कड़े वचन कहे, जिसे सुनकर सब राक्षसियाँ विषाद करने लगीं। प्रभु के वचनों को आदर देकर मन-वचन-कर्म से सीता बोली- तुम मेरे धर्म के नेगी (धर्मावरण में सहायक) बनो तथा तुरन्त अग्नि तैयार करो। सीता ने लीला से कहा– यदि मन-वचन-कर्म से मेरे हृदय में राम के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं है तो अग्निदेव, जो सबके मन की गति जानते हैं, मेरे भी मन की गति जानकर, मेरे लिए चन्दन के समान शीतल हो जायें।[25] सीता ज्यों ही उस अग्निकुण्ड में प्रवेश करती हैं, उनका प्रतिबिम्ब (छायामूर्ति) तथा उनका लौकिक कलंक प्रचण्ड अग्नि में जल गये। प्रभु के इन चरित्रों को किसी ने नहीं जाना। देवता, सिद्ध तथा मुनि सब आकाश में खड़े देखते रहे। इसके पश्चात् अग्नि ने शरीर धारण करके वेदों में तथा जगत् में प्रसिद्ध वास्तविक श्री (सीता) का हाथ पकड़कर उन्हें राम को वैसे ही समर्पित किया[26] जैसे क्षीरसागर ने विष्णु को लक्ष्मी समर्पित की थी, सीतां राम के वाम अंग में सुशोभित हुई।

'पउमचरिउ' तथा 'रामचरितमानस' में संयोजित अवान्तर प्रसंगों का तुलनात्मक अध्ययन

यद्यपि 'पउमचरिउ' तथा 'मानस' दोनों में ही अनेक अवान्तर प्रसंग आये हैं जो मूलकथा को गति प्रदान करने के साथ ही विभिन्नता भी प्रदान करते हैं परन्तु दोनों महाकाव्यों में मूलकथा एक होने के उपरान्त भी अवान्तर कथाएँ नितान्त भिन्न हैं। चरिउ में वर्णित अवान्तर कथाएँ इस प्रकार हैं- विभिन्न वंशों, यथा- विद्याधर, इक्ष्वाकु इत्यादि की उत्पत्ति, भरत-बाहुबलि आख्यान, भामण्डल आख्यान, रुद्रभूति और बालिखिल्य की कथा, वज्रकर्ण तथा सिंहोदर की कथा, राजा अनन्तवीर्य की कथा, पवनंजय आख्यान, वरुणगाँव के कपिल मुनि, यक्षनगरी, कुलभूषण-देशभूषण मुनियों की कथायें इत्यादि।

'मानस' में अवान्तर कथाओं के अन्तर्गत जो कथायें ली जा सकती हैं वे इस प्रकार हैं- शिव-पार्वती कथा, विश्वमोहिनी की कथा, मनु-शतरूपा आख्यान, कैकेयदेश के राजा प्रतापभानु के पूर्वजन्म की कथा, जय-विजय की कथा, कश्यप-अदिति आख्यान, निषादराज, गुह, भरद्वाज, अगस्त्य, सुतीक्ष्ण ऋषियों से भेंटवार्ता, अहल्योद्धार, जयन्त-प्रकरण, शबरी, शूर्पनखा, मन्थरा, जटायु, सुमंत्र, सम्पाती, ताड़का, खरदूषण तथा परशुराम प्रसंग प्रभृति। इसके अतिरिक्त भी रावण तथा काकभुशुण्डि के चरित्र को भी प्रासंगिक कथाओं के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

इस प्रकार पउमचरिउ एवं रामचरितमानस दोनों में राम की कथा नितान्त भिन्न है।

---

1. तिहुअणलग्गण- खम्भु गुरु परमेट्ठि णवेप्पिणु।
   पुणु आरम्भिय रामकह, आरिसु जोएप्पिणु॥

   पणवेप्पिणु आइ- भडाराहो। संसार - समुद्दुत्ताराहो॥ 1.1॥ पउमचरिउ
2. इय चउवीस वि परम-जिण पणवेप्पिणु भावें।
   पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायण- कावें॥ 1.19 पउमचरिउ॥
3. वर्णनामर्थसंधानां रसानां छंदसामपि।
   मंगलानां च कर्त्तारौ वंदे वाणीविनायकौ॥ 1.1॥ रामचरितमानस

   x x x

   यस्यांके च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके,
   भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।
   सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा,
   शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशंकरः पातु माम्॥ 2.1॥ वही

   x x x

मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं,
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्।
मोहाम्भोधरपूगपाटनविधो स्वःसंभवं शंकरं,
वंदे ब्रह्मकुलं कलंकशमनं श्रीरामभूपप्रियम्॥ 3.1॥ वही

x x x

कुन्देन्दीवरसुंदरावतिबलौ विज्ञानधामावुभौ,
शोभाढ्यौ वरधन्विनौ श्रुतिनुतौ गोविप्रवृंदप्रियौ।
मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ,
सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ भक्तिप्रदौ तौ हि नः॥ 4.1॥ वही

x x x

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशांतिप्रदं,
ब्रह्माशंभुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदांतवेद्यं विभुम्।
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं,
वंदेऽहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूड़ामणिम्॥ 5.1॥ वही

x x x

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं,
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम्।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवं,
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम्॥ 6.1॥ वही

x x x

केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्न,
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम्।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं,
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम्॥ 7.1॥ वही

x x x

4. सुनहु प्रिया व्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जो लगि करौ निसावर नासा॥

जबहिं राम सब कहा बखानी। प्रभु पद धरि हियँ अनल समानी।।
निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता।।
लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना।।23।।

- अरण्यकाण्ड, रा.च.मा.

5. माणवि एह तिय जं जिज्जइ एकु मुहुत्तउ।
सिव-सासय-सुसहों तहों पासिउ एउ वहुत्तउ।। 38.8.9 प.च.।।

6. नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं।।
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।।
गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान।। 35।।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा।।
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा।।
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा।
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुं नहिं देखइ पर-दोषा।।
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना।। 36।।

- अरण्य., रा.च.मा.

7. एम भणेवि पेसिउ सामन्तउ। जो सो परिमियत्थ- गुणवन्तउ।। 70.5.7 प.च.।।

x x x

तं णिसुणेवि भडेहिँ गलथल्लिउ। टक्कर-पण्हिय-धाएहि घल्लिउ।।
गउ स-पराहवु लंक पराइउ। कहिउ देव हउँ कह वि ण घाइउ।।
दुज्जय लक्खण-राम ण करन्ति संधि णउ वुत्तउ।
जै जाणहि तं चिन्तें आयउ खय-कालु णिरुत्तउ।। 70.8-10।। वही

8. हरि-हलहर-गुण गहणेहिं दूअहों वयणेहिं पहु पहरेव्वउ **परिहरइ**।
विज्जहें कारणें रावणु जग-जगडावणु संति-जिणालउ **पइसरइ**॥ 71.1॥ वही
णवर पवियम्भमाणेहि दोहिं पि सुग्गीव-पुत्तेहिं।
अण्णाय-वन्तेहिं उग्गिण्ण-खग्गेहिं रेक्कारिओ रावणो॥
तह वि अमणो ण खोहं गओ सव्व रायाहिरायस्स॥ 4.71.15॥ वही

x x x

जं एवं वि खोहहों ण गउ राउ। तं विज्जहें आसण-कम्पु जाउ॥
आइय अंधारउ जउ करन्ति। बहुरूविणी वहु-रूवइं धरंति॥ 72.12.3-4॥ वही

x x x

ताव णिसायर-णाहु स-विज्जउ।
णं स-कलत्तउ सुरवइ विज्जउ॥ 72.14.1॥ वही

9. 72.12, वही

राम बिरोध बिजय चह सठ बस अति अग्य। 84॥
जग्य विधंसि कुसल कपि आए रघुपति पास॥ 85॥ **लंका., रा.च.मा.**

10. तो गहिय-चंदहासाउहेण। हक्कारिउ लक्खणु दहमुहेण॥
लइ पहरु पहरु किं करहि खेउ। तुहुँ एक्के चक्कें सावलेउ॥
महु घइं पुणु आएं क्वणु गण्णु। किं सीहहों होइ सहाउ अण्णु॥
तं णिसुणेवि विप्फुरियाहरेण। मेल्लिउ रहंगु लच्छीहरेण॥
उअयइरिहें णं अत्थइरि गउ सूर-विम्बु कर-मण्डियउ।
स ईं भु एँहि हणन्तहों दहमुहहों मण्ड उर-त्थलु खण्डियउ॥75.22.6-10॥ प.च.

11. खैंचि सरासन श्रवन लगि छाड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस॥ 102॥
सायक एक नाभि सर सोषा। अपर लगे भुज सिर करि रोषा॥

लै सिर बाहु चले नाराचा। सिर भुज हीन रूंड महि नाचा॥
डोली भूमि गिरत दसकंधर। छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर॥
धरनि परेउ द्वौ खण्ड बढ़ाई। चापि भालु मर्कट समुदाई॥ 103॥ लंका., रा.च.मा.

12. 'जय णन्द वद्ध' मंगल- रवेहिँ
चिंतवइ विहीसणु जाय संक। ''लइ णट्ठु कज्जु उच्छिण्ण लंक॥
मुउ रावणु संतइ तुट्ट अज्जु। मंदोयरि विहव विण्ट्ठु रज्जु॥
पभणइ कुमारु करें 'चित्तु धीरु'। छुडु सीय समप्पइ खमइ वीरु॥
75.22.2-5॥ वही

13. नाभिकुण्ड पियूष बस याकें। नाथ जिअत रावनु बल ताकें॥
सुनत विभीषण बचन कृपाला। हरषि गहे कर बान कराला॥ 102॥
लंका., रा.च.मा.

14. वणु सेविउ सायरु लंकियउ णिहउ दसाणणु रत्तएण।
अवसाण-कालें पुणु राहवेंण घल्लिय सीय विरत्तेंएण॥
लोयहुँ छंदेंण तेंण तेंण तेंण चित्तें। राहव-चंदेंण तेंण तेंण तेंण चित्तें॥
पाण-पियल्लिया तेंण तेंण तेंण चित्तें। जिह वणें घल्लिया तेंण तेंण तेंण चित्तें॥
81.1॥ वही

15. अहो रायाहिराय परमेसर। णिम्भल-रघुकुल-णहयल-ससहर॥
दुद्दभ-दणुऊ-देह-मय-मद्दण। तिहुअण-जण-मण-णयणाणंदण॥
जइ अवराहु णाहिं धर-धारा। तो पट्टणु विण्णवइ भडारा॥
पर-पुरिसु रमेवि दुम्महिलउ देंति पडुत्तर पइ-यणहों।
किं रामु ण भुंजइ जणयसुय बरिसु वसेवि घरे रामणहो॥ 81.3.7-10॥ वही

16. एत्थु वच्छ अवहेरि करेवी। जणय-तणय वर्णे कहि मि थवेवी।
जीवउ मरउ काइँ किर तत्तिए। किं दिणमाणि सहुँ णिवसइ रत्तिए॥
मं रघु-कुलें कलंकु उप्पज्जउ। तिहुअर्णे अयस-पडहु मं वज्जउ॥ 81.8.2-4॥ वही

17. महु ण दोसु रहुवइ जें जाणई।
वरि विसु हालाहउ भक्खियउ वरि ज़म लोउ णिहालियउ।
पर-पेसण-भायणु-दुह-णिलउ सेवा-धम्मु ण पालियउ॥ 81.10.9-10॥ वही

18. दूहव-दूरास-दुह-भायणिय णइ मइँ जेही का वि तिय॥ 81.12.10॥ वही

19. णिट्ठर-हिययहों अ-लइय-णामहों। जाणमि तत्ति ण किज्जइ रामहों।
घल्लिय जेण रूवंति वणन्तरें। डाइणि-रक्खस-भूय-भयंकरें॥ 83.6.2-3
जो तेण डाहु उप्पाइयउ पिसुणालाव-मरीसिएँण।
सो दुक्करु उल्हाविज्जइ मेह-सएण वि वरिसिएँण॥ 83.6.8॥ वही

x x x

जइ वि ण कारणु राहव-चंदें। तो वि जामि लइ तुम्हहँ छंदे॥ 83.7॥ वही

20. कन्तहें तणिय कंति पेक्खेप्पिणु। पभणइ पोमणाहु विहसेप्पिणु।
'जइ वि कुलुग्गयाउ णिरवज्जउ। महिलउ होंति सुट्ठु णिल्लज्जउ॥
दर-दाविय-कुडक्ख-विक्खेवउ। कुडिल-मइउ वड्ढिय-अवलेवउ॥
वाहिर-धिट्ठउ गुण-परिहीणउ। किह सय-खण्डण जंति णिहीणउ॥
णउ गणन्ति णिय-कुलु मइलंतउ। तिहुअर्णे अवस-पडहु वज्जन्तउ॥
अंगु समोड्डेवि धिद्धिक्कारहों। वयणु णिएंति केम भत्तारहों'॥ 83.8.1-6॥ वही

21. पुरिस णिहीण होंति गुणवंत वि। तियहें ण पत्तिज्जन्ति मरंत वि॥
खडु लक्कडु सलिलु वहंतियहें पउराणियहें कुलुग्गयहें।
रयणायरु खारइँ देन्तउ तो वि ण थक्कइ णम्मयहें॥ 83.8.8-9॥ वही

x x x

णर-णारिहिं एवड्डउ अंतरु । मरणें वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु ॥ 83.9.6 ॥ वही

22. णिट्ठुरु णिरासु मायारउ दुक्किय-गारउ कूर-मइ ।
णउ जाणहुं सीय वहेविणु रामु लहेसइ कवण गइ ॥ 83.12.9 ॥ वही

23. तो वोलिज्जइ राहव-चंदे । "णक्कारणें खल-पिसुणहँ छंदें ॥
जं अवियप्पें मइँ अवमाणिय । अण्णु वि दुहु एवड्डु पराणिय ॥
तं परमेसरि महु मरुसेज्जहि । एक्क-वार अवराहु खमेज्जहि ॥ 83.16.1-3 ॥ वही

x x x

मणे घरहि एउ महु वुत्तउ मच्छरू सयलु वि परिहरहि ।
सइ जिह सुरवइ-संसग्गिएँ णीसावण्णु रज्जु करहि ॥ 83.16.8 ॥ वही

24. तं णिसुणेवि परिचत्त-सणेहिएँ । एव पजम्पिउ पुणु वइदेहिएँ ॥
अहों राहव मं जाहि विसायहों । ण वि तउ दोसु ण जण-संघायहों ॥
भव-भव-सएँहि विणासिय-धम्महों । सव्वु दोसु एँउ दुक्किय-कम्महों ॥
83.17.1-3, वही

x x x

एवहिं तिह करेमि पुणु रहुवइ । जिह ण होमि पडिवारी तियमइ ॥
महु विषय-सुहेहि पज्जत्तउ छिन्दमि जाइ-जरा-मरणु ।
णिव्विण्णी भव-संसारहों लेमि अज्जु थुवु तव-वरणु ॥ 83.17.9-10 ॥ वही

x x x

एम ताएँ एँउ वयणु चवेप्पिणु । दाहिण-करेंण समुप्पाडेप्पिणु ॥
णिय-सिर चिहुर तिलोयाणन्दहों । पुरउ पघल्लिय राहव-चंदहों ॥
83.18, वही

सीयएँ सील-तरण्डएँ थाएँवि । लइय दिक्ख रिसि-आसमें जाएँवि ॥
पासें सव्वभूसण-मुण्णिाहहों । णिम्मल-केवल-णाण-सणाहहों ॥
जाय तुरिउ तव-भूसिय-विग्गहु । मुक्क-सव्व-पर-वत्थु-परिग्गहु ॥
83.18.6-8, वही

25. सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अंतर साखी॥
तेहि कारन करुनानिधि कहे कछुक दुर्बाद।
सुनत जातुधानी सब लागीं करै विषाद॥ 108॥
प्रभु के बचन सीस धरि सीता। बोली मन क्रम बचन पुनीता॥
लछिमन होहु धरम के नेगी। पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी॥

पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदयँ हरष नहिं भय कछु तेही॥
जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखण्ड समाना॥ 108॥

- लंका., रा.च.मा.

26. श्रीखण्ड सम पावक प्रवेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली॥
प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहुँ न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे॥
धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहिं समर्पी आनि सो॥
सो रा बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।
नव नील नीरज निकट मानहुँ कनक पंकज की कली॥ 109॥

- लंका., रा.च.मा.

20, गोपालनगर
पो. ऑ. आलमबाग
लखनऊ – 226 023

सीयल छाटा-लयाहर-सयमणोहर

हरिवंसुब्भेण हरिविक्कमसारवलेण रण्णयं ।
दीसइ देवदारु-तलताली-तरल-तमाल-छण्णयं ।।
लवलि-लवंग लउय-जंबु-वर अंब-कवित्थ-रिद्धयं ।
सामलि-सरल-साल सिणि-सल्लइ-सीसव-समि-समिद्धयं ।।
चंपय-चूय-चार-रवि-चंदण-वंदण-वंद सुंदरं ।
पत्तल वहल-सीयल छाय-लयाहर-सयमणोहरं ।।
मंथरमलयमारुयंदोलिय - पायव - पडिय - पुप्फयं ।।
केसरिणहर- पहर - खरदारिय - करि - सिभिन्न मोत्तियं ।
मोत्तियपंति - कंति - धवलीकय सयल दिसा वहंतियं ।।
खोल्ल - जलोल्ल - तल्ल - लोलंत लोलकोल - उल - भीसणं ।
वायक - कंक - सेण - सिव - जंबुअ - धूय विमुक्कणीसयं ।।
मयगय - मय - जलोह -कय कद्दम संखुब्भंत वणयरं ।
फुरिय फणिंदफार - फणिंद - मणिगण - किरण - करालियांबरं ।।

गिरि-गण-तुंग-सिंग-आलिंगिय-चंदाइच्च-मंडलं ।
तत्थ भयावणे वणे दीसइ णिम्मलं सीयलं जलं ।।
घत्ता– णामें सलिलावत्तु लक्खिज्जइ मणहरु कमल सरु ।
णाइं सुमित्तें मित्तु अवगाहिउ णयणाणंदयरु ।।1 ।। रिट्ठणेमिचरिउ 2.1 ।।

- हरिवंश में उत्पन्न तथा सिंह के पराक्रम के समान सारभूत बलवाले वसुदेव को महावन दिखाई देता है। वह वन देवदार ताल-ताली और तरल तमाल वृक्षों से आच्छादित है, लवली लता, लवंगलता, जामुन, श्रेष्ठ आम और कपित्थ वृक्षों से समृद्ध है। शाल्मलि, अर्जुन, साल, शिनि, सत्यकी, सीसम और शमी वृक्षों से सम्पन्न है। चम्पा, आम्र, अचार, रविचन्दन, और वन्दन वृक्षों के समूह से सुन्दर है। जिनमें बहुत से पत्ते हैं ऐसे ठण्डी छायावाले सैकड़ों लतागृहों से जो सुन्दर है, जिसमें धीमी-धीमी मलय हवा से आन्दोलित वृक्षों के पुष्प गिरे हुए हैं, जिसमें पुष्पसमूह सहित भ्रमरावली द्वारा पथिकों को झुका दिया गया है, जिसमें सिंहों के नखों के द्वारा तीव्रता से फोड़े गए हाथियों के सिरों से मोती बिखेर दिए गए हैं, जो गहवरों के जल-समूह में हिलते हुए सुअरों के समूह से भयंकर है, जिसमें वायसों, बगुलों, सेनों, सियारों और सियारिनों द्वारा शब्द किया जा रहा है, जिसमें मदगजों के मदजल समूह की कीचड़ से वन्य प्राणी कुपित हो रहे हैं, जिसका आकाश काँपते हुए नागों से विशाल और नागराजों की फणमणियों की किरणावलियों से भयंकर है, जिसने पर्वत समूह के ऊँचे शिखरों से चन्द्रमा और सूर्य के मण्डलों को आलिंगित किया है, ऐसे उसे भयावह वन में उसे स्वच्छ और शीतल जल दिखाई देता है।।1 ।।

घत्ता – सलिलावर्त नामक सुन्दर कमल-सरोवर दिखाई देता है। उसने उसका ऐसा अवगाहन किया जैसे सुमित्र ने नेत्रों को आनन्द देने वाले मित्र का अवगाहन किया है।

अनु. - डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

'पउमचरिउ' : भक्ति, वीर एवं शृंगार रस का अद्‌भुत समन्वय

- डॉ. मधुबाला नयाल

■

अपभ्रंश काव्य-परम्परा में महाकवि स्वयंभूदेव का 'पउमचरिउ' अपने मौलिक कथा-प्रसंगों एवं शिल्पगत विशेषताओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पाँचों काण्डों- विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड एवं उत्तर काण्ड के रूप में बँटी कथा की 90 सन्धियाँ अद्‌भुत काव्य-प्रतिभा का परिचय है। भामह, दण्डी, रुद्रट एवं आचार्य विश्वनाथ द्वारा महाकाव्य के स्वरूप की प्रस्तुत की गई कसौटियों में कथानक, सर्ग-निबन्धन, महान् चरित्र-अवतारणा, उत्कृष्ट एवं अलंकृत शैली, चतुर्वर्ग-सिद्धि, वर्ण्य वस्तु-विस्तार एवं रस-योजना महत्त्वपूर्ण हैं। स्वयंभू का 'पउमचरिउ' इन मानदण्डों पर खरा सिद्ध होते हुए रस-योजना की दृष्टि से अत्यन्त प्रभविष्णु है।

अभिव्यञ्जना का माध्यम है शब्द। स्वयंभूदेव शब्दों की आत्मा को, भाषा की बारीकियों को पकड़ते हुए अपभ्रंश भाषा के सूक्ष्म और गूढ़ नियमों का सावधानी से पालन करते हैं।

उदात्त अभिव्यक्ति के पाँच प्रमुख स्रोत माने गए हैं-

(1) महान् धारणाओं की क्षमता

(2) प्रेरणा-प्रसूत आवेग

(3) अलंकारों की समुचित योजना

(4) उत्कृष्ट भाषा

(5) गरिमामय एवं अर्जित रचना-विधान।[1]

'पउमचरिउ' में लगभग ये सभी स्रोत विद्यमान हैं। जीवनभर क्षुद्र उद्देश्यों एवं विचारों से ग्रस्त व्यक्ति के लिए स्वयंभूदेव का 'पउमचरिउ' उनके प्रकर्ष में सहायक है। आवेग की तो यहाँ कोई कमी नहीं। दया, शोक, भय, साहस, धैर्य- सभी के प्रसंग महाकाव्य में विद्यमान हैं।

कवि ने वस्तुपक्ष एवं शैलीपक्ष के उपयुक्ततम स्थलों और उपकरणों का चुनाव एवं उनका समंजन किया है, और समंजन के लिए विरोधी तत्त्वों का चुनाव करते हुए औदात्य उत्पन्न किया है। ''विरोधी तत्त्वों से परिपूर्ण व्यापक विराट धरातल से सर्वाधिक प्रभावी तथ्यों को चुनने और उन्हें एक सम्पूर्ण इकाई में गूँथ देने से औदात्य उत्पन्न होता है।[2] लांजाइनस की दृष्टि में प्रभावी और सारवान् तथ्य वे ही हैं जो मानव के औदात्य को अभिव्यक्त करते हैं। स्वरों के मिश्रण एवं प्रसंगानुसार परिवर्तन द्वारा कवि भाव-संचार में सफल होता है। यहाँ वीर रस एक छोर पर तो शृंगार रस दूसरे छोर पर विराजमान नहीं है अपितु 'भक्ति' उन्हें विरोधी तत्त्वों के रूप में अपने साथ अनुस्यूत किये हुए है। इसी संगुम्फन से कवि संसार की निस्सारता सिद्ध करता हुआ मानव को भक्ति/औदात्य की ओर ले जाता है।

त्रिभुवन स्वयंभूदेव के शब्दों में 'पउमचरिउ' राम की चेष्टा है- 'पर्यायारामायणमित्युक्तं तेन चेष्टितं रामस्य।'[3] मूल प्रतिपाद्य 'भक्ति' होने के कारण ऋषभजिन-जन्म, जिन-निष्क्रमण के साथ प्रारम्भ हुआ महाकाव्य राम के आदिनाथ भगवान् के निकट चले जाने के साथ समाप्त होता है। रामायण आदि ग्रन्थों में राम लोकपुरुष या ब्रह्म के अवतार हैं;[4] समस्त जगत् द्वारा वन्दनीय। 'पउमचरिउ' के राम 'बलदेव' हैं, जिनवर के परम उपासक। इस रामकथा के आधार से स्वयंभूदेव जैन-दर्शन एवं भक्ति की सार्थकता सिद्ध करने में सफल हुए हैं।

भक्ति की ओर झुकाव उत्पन्न करने में कारणरूप हैं- संसार एवं देह की नितान्त क्षयोन्मुख-प्रवृत्ति, काल-प्रभाव एवं जीवन की अनित्यता। जीव की आयु पत्ते के सिरे पर लटकते हुए जल-बिन्दु के समान अस्थिर है। अवश्य पाने योग्य वस्तु केवल एक– परमात्म-ज्ञान है। इससे फिर शोक नहीं करना पड़ता, यह परम निर्वाणरूप सुख का स्थान है। इस सत्य का साक्षात् कर लेने के कारण कथा में आए सभी मुख्य एवं गौण पात्र दीक्षा स्वीकार कर प्रव्रजित होते हैं।

जीवन और जीवन के सुख दोनों चंचल हैं और दु:ख मेरु पर्वत की तरह बढ़ता है। वृद्ध कंचुकी की जरा-जर्जरावस्था से विषण्ण-मन राजा दशरथ वही कर्म करना चाहते हैं जिससे अजर-अमर पद प्राप्त किया जा सके -

सुहु महु-विन्दु-समु दुहु मेरु-सरिसु पवियम्भइ।
चरि ण कम्मु हिउ जं पउ अजरामरु लब्भइ ।।22.2.9 ।।

– सुख मधु की बूँद की तरह है और दु:ख मेरु पर्वत की तरह बढ़ता जाता है; वही कर्म अच्छा और हितकारी है कि जिससे अजर-अमर पद प्राप्त किया जा सके।

'पउमचरिउ' में निर्दिष्ट भक्ति का मूल आधार है ज्ञान; ज्ञान जिससे मोक्ष प्राप्त होता है। धर्म से वैराग्य और वैराग्य से ज्ञान उत्पन्न होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मानते हैं - ''धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लँगड़ा; ज्ञान के बिना अन्धा; भक्ति के बिना हृदयहीन क्या निष्प्राण रहता है।''[5] गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति को धर्म और ज्ञान की रसानुभूति माननेवाले आचार्य शुक्ल मानते हैं कि ईश्वर के धर्मस्वरूप की रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन में होती है। 'मानस' में सत्संगति, गुरुपद-सेवा, ईश्वर का गुण-गान, मन्त्र-जाप, दम-शील आदि का विधान, सर्वत्र ईश्वर-दर्शन, सन्तों को ईश्वर से अधिक सम्मान देना, यथालाभ सन्तोष, परदोष न देखना, छलहीनता, ईश्वर पर अटूट विश्वास को भक्ति का सोपान माना गया है।[6] पुरुषार्थ चतुष्टय/मूल्यों के चतुर्वर्ग में से धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति इस भक्ति का मुख्य लक्ष्य है। मानस में वर्णित भक्ति का पथ सहज एवं सर्वसुलभ है; किन्तु, 'पउमचरिउ' में धर्म (जिन-प्रव्रज्या) का पथ अत्यन्त दु:सह/कठिन है। प्रव्रज्या हेतु इच्छुक भरत को समझाते हुए राजा दशरथ कहते हैं -

जिण-पवज्ज होइ अइ-दुसहिय।
कें वावीस परीसह विसहिय।
कें जिय चउ-कसाय-रिउ दुज्जय।
कें आयामिय पञ्च महव्वय।
कें किउ पञ्चहुँ विसयहुँ णिग्गहु।
कें परिसेसिउ सयलु परिग्गहु।
को दुम-मूलें वसिउ वरिसालएँ।
को एकङ्गें थिउ सीयालएँ।
कें उण्हालएँ किउ अत्तावणु।
एँउ तव-चरणु होइ भीसावणु॥ 24.4.5-11॥

– जिन-प्रव्रज्या अत्यन्त असहनीय होती है। बाईस परीषहों को सहन किसने किया? अजेय चार कषायरूपी शत्रुओं को किसने जीता ? किसने पाँच महाव्रतों का पालन किया ? पाँच विषयों का निग्रह किसने किया ? किसने समस्त परिग्रहों का त्याग किया ? वर्षाकाल के समय वृक्ष के नीचे कौन रहा ? शीतकाल में अकेला कौन रहा ? उष्णकाल में आतापन तप

किसने तपा ? यह तपश्चरण अत्यन्त भीषण होता है। हे भरत, तुम बढ़-चढ़कर बात मत करो; तुम अभी बालक हो। विषय-सुखों का भोग करो। यह प्रव्रज्या का कौन-सा समय है?

कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के सम्यक् निर्वाह हेतु काव्य में शृंगार, वीर, शम एवं भक्ति रसों की आयोजना हुई है। भक्ति के समानान्तर वीर रस की अजस्र प्रवहमान धारा अन्य दो मूल्यों- अर्थ एवं काम-प्राप्ति की दिशा में ले जाती है। काम-मार्ग अवरुद्ध होने पर क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध जन्म देता है शत्रु-भाव को; परिणामत: काव्य में वीर-रस का विधान होता है। दशरथ एवं हरिवाहन के मध्य युद्ध का कारण है- कैकेयी के रूप पर आसक्ति। भामण्डल के उद्वेग का कारण है पट-निर्मित सीता-प्रतिमा का अनिन्द्य सौन्दर्य। कैकेयी के उद्वेग का कारण है- अर्थ-काम-प्राप्ति में उत्पन्न उपसर्ग। राजा दशरथ के प्रव्रज्या-यज्ञ का समाचार उसे भरत के लिए राज्य-वरदान माँगने को प्रेरित करता है।[7] लक्ष्मण का क्रोध राम के प्रति स्नेहाधिक्य के कारण राम-राज्य-प्राप्ति में बाधक-कारकों पर फट पड़ता है; किन्तु, राम द्वारा शान्त किए जाने पर वे उनके साथ जिनवर की अभ्यर्थना में संलग्न होते हैं। फलत: उनकी स्तुति निम्न रूप में प्रस्फुटित होती हुई अन्ततोगत्वा 'जय-मोक्ख महीहरे अत्थमिय' भाव पूजा पर समाप्त होती है।

जय गय-भय-राय-रोस-विलय।
जय मयण-महण तिहुवण तिलय।
जय खम-दम-तव-वय-णियम-करण।
जय कलि-मल-कोह-कसाय हरण।। 23.10-3 ।।

– राग-द्वेष (क्रोध) का नाश करनेवाले आपकी जय हो। हे काम का नाश करनेवाले त्रिभुवन श्रेष्ठ, आपकी जय हो। क्षमा, दम, तप, व्रत और नियम का पालन करनेवाले, आपकी जय हो। पाप के मल, क्रोध और कषाय का हरण करनेवाले, आपकी जय हो।

रुद्रभूति पर उनके क्रोध का कारण है उसके द्वारा कल्याणमाला के पिता को बन्दी बनाना। वनमाला के पिता से भी लक्ष्मण का युद्ध होता है और लक्ष्मण उसकी सेना को मार गिराते हैं -

उव्वडइ भिडइ पाडइ तुरङ्ग।
महि कमइ भमइ भामइ रहङ्ग।
अवगाहइ साहइ धरइ जेह।
दलवट्टइ लोट्टइ गयवरोह।। 29.9.5-6 ।।

– (वह) उछलता है, भिड़ता है, अश्वों को गिराता है। धरती का उल्लंघन करता है, घूमता है और चक्र को घुमाता है।

वीरता के अवतार लक्ष्मण जिन्हें कवि वासुएव, कुमार, जणद्दणु, महुमहणु, पुरिसोत्तम, हरि, केसव, गोविन्द, श्रीवत्स, नारायण, दामोदर, कण्ह, विण्हु आदि नाम-संज्ञाएँ देता है[8]- वन में अनेक सुन्दरियों से परिणय करते हैं और उनके साथ रमण भी[9]। अन्य राम-कथा-ग्रन्थों के लक्ष्मण से यह लक्ष्मण नाम एवं चरित्र दोनों दृष्टियों से नितान्त भिन्न है। अन्य रामकथाओं में विष्णु के अवतार राम हैं अत: वासुदेव, जनार्दन, हरि, केशव, नारायण, विष्णु, पुरुषोत्तम ये सारी संज्ञाएँ (संस्कृत एवं हिन्दी रामकाव्यों में) उनके लिए प्रयुक्त हुई हैं। और, चारित्रिक दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण में इन्द्रजीत का वध तो साक्षात् राम द्वारा सम्भव नहीं क्योंकि बारह वर्षों तक आहार-निद्रा-त्यागी और ब्रह्मचर्यव्रती के हाथों ही उसका वध सम्भव है, अत: केवल लक्ष्मण ही यह स्तुत्य कर्म कर सकते हैं, ब्रह्मचर्य के कारण, पर इस काव्य में वे सर्वथा भिन्न हैं। क्षेमंजलि राजा अरिदमन को परास्त कर जितपद्मा के मान-अहंकार को चूर करनेवाले लक्ष्मण उससे भी विवाह करते हैं। अरिदमन द्वारा समरांगण में छोड़ी गयी धक्-धक् कर दौड़ती शक्तियों को वे अपने दायें-बायें हाथ, काँख और दाँतों से रोक लेते हैं। वे कामावतार होने के साथ ही महान् वीर भी हैं।[10]

कुलभूषण और देशभूषण, जो कालान्तर में तपश्चरण के माध्यम से श्रेष्ठ मुनि बनते हैं, काम के प्रभाव में आकर अज्ञानवश अपनी बहन कमलोत्सवा की ओर आकृष्ट होते हैं किन्तु उसका परिचय जानकर आत्मग्लानि में भरे हुए इन्द्रियों की विषयगम्यता एवं मन की दुर्बलता-क्षुद्रता को समझ विवाह और पापमय राज्य के भोग से निवृत्ति ले लेते हैं।[11]

सीता-सौन्दर्य पर लुब्ध रावण जैसे श्रेष्ठ जिनभक्त को अवलोकिनी विद्या पाप-मार्ग से निवृत्त करने हेतु सावधान करती है-

लइ-लइ जइ जिण-सासण, छण्डहि ॥ 38.8.3 ॥

– यदि जिनशासन छोड़ना चाहते हो तो इसे ले लो।

जटायु के ऊपर काम-मोहित रावण के क्रोध का मूल कारण है उसका अभीष्ट-सिद्धि के मार्ग में बाधक बनना। फिर भी,

अण्णु वि मइँ णिय - वउ पालेव्वउ।
मण्डएँ पर-कलत्तु ण लएव्वउ ॥ 38.19.4 ॥

– और मुझे अपने व्रत का पालन करना चाहिए। बलपूर्वक दूसरे की स्त्री को ग्रहण नहीं करना चाहिए- यह संकल्प दोहराता हुआ रावण अपहृत सीता को उपवन में शिंशपा वृक्ष के नीचे बैठा देता है।

'पउमचरिउ' में राम-रावण के युद्ध का मुख्य कारण है सीता, धर्म-हानि नहीं। (मानस के राम धर्म-रक्षण के लिए धनुष उठाते हैं) राम-पक्ष के योद्धाओं का सन्देश ले रावण-दरबार में पहुँचा अंगद उसे सन्धि-हेतु प्रेरित करता हुआ मंत्रणा देता है -

'लक्खण-रामहुँ धुउ अप्पिजउ जणय-सुअ।'

राम भी रावण के दूत को -

णिहि-रयणइँ हय-गय-रज्जू।

सव्वइँ सो ज्जें लएउ अम्हहुँ पर सीयएँ कज्जू।। 70.7.10 ।।

– निधियाँ और रत्न, अश्व और गज एवं राज्य सब कुछ वह ले ले, हमें तो केवल सीता चाहिए- के रूप में सीता-प्राप्ति का अपना संकल्प जता देते हैं।

रावण-वध के पूर्व लक्ष्मण- **'करें चित्तु धीरु। छुडु सीय समप्पइ खमइ वीरु** (– सीता को अर्पित कर देने पर रावण को क्षमा कर दूँगा') शब्दों में विभीषण को आश्वस्ति देते हैं। 57वीं सन्धि से 76वीं सन्धि तक लगभग 11 सन्धियों में वीर रस-निष्पत्ति ही प्रधान है। अन्य सन्धियों में भी वीर रस की कमी नहीं।[12]

अपने पिता दशरथ से आदेश पा राम-लक्ष्मण पुलिन्दराज तम के हाथों से जनक एवं कनक का उद्धार करते हैं जिसके फलस्वरूप जनक राम को जानकी, द्रोण लक्ष्मण को विशल्या तथा शशिवर्द्धन अपनी आठ मनोहर कन्याएँ संकल्पित करते हैं।

लक्ष्मण-रुद्रभूति-युद्ध प्रसंग में रस-सृष्टि हेतु न केवल आलंकारिक भाषा का उपयोग हुआ है अपितु कवि ध्वनि-संयोजन द्वारा गत्यात्मक-बिम्ब-सृष्टि करने में सफल हुआ है -

अप्फालिउ महुमहणेण धणु।
धणु - सद्दे समुट्ठिउ खर-पवणु।
खर-पवण-पहय जलयर रडिय।
रडियागमे वज्जासणि पडिय।
पडिया गिरि सिहर समुच्छलिय।
उच्छलिय चलिय महि णिद्दलिय।
णिद्दलिय भुअङ्ग विसग्गि मुक्क।
मुक्कन्त णवर सायरहुँ दुक्क।
दुक्कन्तेंहिं वहल फुलिङ्ग घित्त।
घण सिप्पि सङ्ख-संपुड पलित्त।
धगधगधगन्ति मुत्ताहलाइँ।
कढकढकढन्ति सायर-जलाइँ।
हसहसहसन्ति पुलिणन्तराइँ।
जलजलजलन्ति भुअणन्तराइँ।। 27.5.1-7 ।।

– लक्ष्मण ने अपना धनुष चढ़ाया। धनुष के शब्द से तीव्र हवा उठी। तीव्र हवा से आहत मेघ गरज उठे। मेघों की गर्जना से वज्राशनि पड़ने लगे। जब पहाड़ गिरे तो शिखर उछलने लगे। उछलते हुए वे चले और धरती दलित होने लगी। धरती दलन से साँपों की विषाग्नि छोड़ने लगी, जो मुक्त होकर वह केवल समुद्र तक पहुँची। पहुँचते ही ज्वालाओं ने चिनगारियाँ फेंकीं, उससे प्रचुर सीपी, शंख-सम्पुट जल उठा। मुक्ताफल धक-धक करने लगे, सागर-जल कड़-कड़ करने लगे। किनारों के अन्तराल हस-हस करके धँसने लगे, भुवनों के अन्तराल जलने लगे।

हनुमान का पराक्रम कवि इन शब्दों में चित्रित करता है-

पर-वलु अणन्तु हणुवन्तु एक्कु।
गय-जूहहों णाइँ मइन्दु थक्कु।
आरोक्कइ कोक्कइ समुहु थाइ।
जहिँ जहिँ जें थट्ट तहिँ तहिँ जें धाइ।
× × ×
सो ण वि भडु जासु ण मलिउ-माणु।
सो ण वि धउ जासु ण लग्गु वाणु।
सो ण वि तुरङ्ग जसु गुडु ण तुट्टु।
सो ण वि रहु जसु ण रहङ्गु फुट्टु।
सो ण वि भडु जासु ण छिण्णु गत्तु।
तं ण वि विमाणु जं सरु ण पत्तु।। 65.1.1-8 ।।

– शत्रु-सेना असंख्य थी और हनुमान् अकेला था, मानो गजघटा के बीच सिंह स्थित हो। वीर हनुमान् उन्हें रोकता, ललकारता और सम्मुख जाकर खड़ा हो जाता। जहाँ झुण्ड दिखाई देता वहीं दौड़ पड़ता। ऐसा एक भी योद्धा नहीं था जिसका मान गलित न हुआ हो, ऐसा एक भी ध्वज नहीं था जिसमें तीर न लगा हो, ऐसा एक भी राजा नहीं था जिसका कवच न टूटा-फूटा हो, ऐसा एक भी गज नहीं था जिसका गण्डस्थल आहत न हुआ हो। एक भी ऐसा अश्व नहीं था कि जिसकी लगाम साबुत बची हो। ऐसा एक भी रथ नहीं था जिसका पहिया टूटा-फूटा न हो। एक भी ऐसा योद्धा नहीं था जिसका शरीर आहत न हुआ हो। ऐसा एक भी विमान नहीं था जिसमें तीर न लगे हों।

लक्ष्मण के शक्ति से आहत होने पर राम रावण के छः रथ, छः धनुष और छः छत्र नष्ट करते हैं[13]।

विहिं हत्थेहिं पहरइ रामचन्दु।
वीसहिं भुव दण्डेहिं णिसियरिन्दु।

अ-पवाण वाण राहवहो तो वि।
जज्जरिय लङ्क रयणायरो वि।
छाइज्जइ गयणु चडन्तएहिं।
अखलिय-सर-महि णिवडन्तएहिं।
वाएवउ चत्तु पहञ्जणेण।
रहु खञ्जिउ अदितिहुं णन्दणेण।
दिस करिहुँ असेसेहुँ गलिउ गाउ।
हल्लोहलिहूअउ जगु जें साउ।
भिज्जन्ति वलइँ जलें जलयरा वि।
णहें णट्ट देव थले थलयरवि।। 75.12.2-7 ।।

– रामचन्द्र दोनों हाथों से उस पर प्रहार कर रहे थे, जबकि रावण अपने बीसों हाथों से। तब भी राघव के तीर गिने नहीं जा सकते थे। उनसे लंका नगरी और समुद्र जर्जर हो गया था। ऊपर चढ़ते और धरती पर गिरते हुए अस्खलित तीरों ने आसमान ढक लिया। हवा का बहना बन्द था। दशरथनन्दन राम ने सूर्य की गति रोक दी। दिग्गजों के शरीर गलने लगे। समूचे विश्व में खलबली मच गयी। सेनाएँ नष्ट होने लगीं। जल के जलचर प्राणी, आकाश के देवता और धरती के थलचर प्राणी नष्ट होने लगे।

निरन्तर सात दिनों तक लड़ते हुए भी जब युद्ध का अन्त नहीं होता तब लक्ष्मण आक्रमण का दायित्त्व स्वयं लेते हैं।

'पउमचरिउ' में भक्ति के सोपान हैं- मुनि-समागम, अपरिग्रह, दया-दान-अहिंसा-सत्यभाषणशील, व्रत-ग्रहण, तपश्चरण, समाधि, ध्यान-ज्ञानप्राप्ति, अनन्तर मोक्ष। सोलह वर्ष का वनवास स्वेच्छा से स्वीकार कर राम-लक्ष्मण-सीता सहित खाई पारकर सिद्धकूट जिन-भवन में पहुँचते हैं और स्वयं जिनवर को प्रणामकर स्तुति करते हैं।[14] पच्चीसवीं सन्धि में रथपुर पहुँचे राम बीस तीर्थंकरों की नामक्रम से वन्दना करते हैं -

जय रिसह दुसह-परिसह-सहण।
जय अजिय अजिय-वम्मह-महण।
जय सम्भव सम्भव-णिद्दलण।
जय अहिणन्दण णन्दिय-चलण।
जय सुमइ-भडारा सुमइ-कर।
पउमप्पह पउमप्पह-पवर।
जय सामि सुपास सु-पास-हण।

चन्दप्पह पुण्ण-चन्द-वयण।
जय जय पुप्फयन्त पुप्फच्चिय।
जय सीयल सीयल-सुह-संचिय।
जय सेयङ्कर सेयंस-जिण।
जय वासुपुज्ज पुज्जिय-चलण।
जय विमल-भडारा विमल मुह।
जय सामि अणन्त अणन्त-सुह।
जय धम्म-जिणेसर धम्म-धर।
जय सन्ति - भडारा सन्ति-कर।
जय कुन्थु महत्थुइ-थुअ-चलण।
जय अर-अरहन्त महन्त गुण।
जय मल्लि महल्ल-मल्ल-मलण।
मुनि सुव्वय सु-व्वय सुद्ध मण।। 25.8.2-11 ।।

– असह्य परीषह सहन करनेवाले ऋषभदेव, आपकी जय हो। अजेय काम का नाश करनेवाले अजितनाथ, आपकी जय हो। जन्म का नाश करनेवाले सम्भवनाथ, आपकी जय हो। नन्दित चरण अभिनन्दन, आपकी जय हो। सुमति करनेवाले आदरणीय सुमति, आपकी जय हो। पद्म (कमल) की तरह सौरभ (कीर्तिवाले) प्रवर पद्मनाथ, आपकी जय हो। पुष्पों से अर्चित पुष्पदन्त, आपकी जय हो। जिन्होंने शीतल सुख का संचय किया है ऐसे शीतलनाथ, आपकी जय हो। कल्याण करनेवाले श्रेयांसजिन, आपकी जय हो। पूज्य चरण वासुपूज्य, आपकी जय हो; पवित्रमुख आदरणीय विमलनाथ, आपकी जय हो। अनन्त सुखवाले हे अनन्त स्वामी, आपकी जय हो। हे धर्मधारण करनेवाले धर्म जिनेश्वर, आपकी जय हो। हे शान्तिविधायक आदरणीय शान्तिनाथ, आपकी जय हो। जिनके चरण महास्तुतियों से संस्तुत हैं ऐसे कुन्थुनाथ, आपकी जय हो। महान् गुणों से विशिष्ट अर अरहन्त, आपकी जय हो। बड़े-बड़े मल्लों (कामक्रोधादि) का नाश करनेवाले मल्लिनाथ, आपकी जय हो। सुव्रतोंवाले शुद्ध मन हे सुव्रत, आपकी जय हो।

यही वन्दना-भक्ति उनका अभीष्ट है और भाव-पूजा का रूप भी। इसके तुरन्त अगले प्रसंग में महाकवि ने सुरति-आसक्ति का चित्रण किया है -

रयणिहें मज्झें पयट्टइ राहवु।
ताम णियच्छिउ परमु महाहवु।।
कुद्धइँ विद्धइँ पुलय-विसट्टइँ।
मिहुणइँ वलइँ जेम अब्भिट्टइँ।। 23.11.1-2 ।।

– जैसे ही राघव रात्रि के मध्य में चलते हैं, वैसे ही, उन्होंने परम महायुद्ध देखा। क्रुद्ध, विद्ध और पुलक विशिष्ट मिथुन, सैन्य की तरह भिड़ जाते हैं।

राम के पीछे अयोध्या से निकले राजागण एवं सैनिक लौटकर पुनः अयोध्या नहीं जाते। उनमें से कोई प्रव्रजित होता है, कोई त्रिपुण्डधारी संन्यासी बनता है, कोई त्रिकाल योगी, तो कोई जिनालय में जाकर संन्यास ले स्थित होता है।[15]

दशरथ के साथ एक सौ चालीस लोग प्रव्रजित होते हैं और कठोर पाँच महाव्रतों को धारण करते हैं।[16]

सिंहरथ का अनुचर राजा वज्रकर्ण जिनभक्त है जो यह उपशम भाव लेता है कि जिननाथ को छोड़कर वह किसी और के लिए नमस्कार नहीं करेगा। राजा सिंहरथ द्वारा क्रुद्ध होकर रथपुर पर आक्रमण करने पर भी वह अपने संकल्प से विचलित नहीं होता। वज्रकर्ण द्वारा प्रदत्त अन्न को उपकार का भारी भार माननेवाले राम के आदेश से लक्ष्मण सिंहोदर से युद्ध करते हैं। भक्ति के मध्य वीर रस का यह निर्वाह अद्‌भुत है -

सूरु व जलहरेहिँ जं वेढिओ कुमारो।
उट्ठिउ धर दलन्तु दुव्वार-वइरि-वारो॥
को वि मुसुमूरिउ चूरीउ पाएँहिँ।
को वि णिसुम्भिउ टक्कर-धाएँहिँ।
को वि करग्गेहिँ गयणें भमाडिउ।
को वि रसन्तु महीयलें पाडिउ।
को वि जुज्झविउ मेस-झडक्कएँ।
को वि कडुवाविउ हक्क-दडक्कएँ॥ 25.15.1,5-7॥

X X X

गेण्हेंवि पहउ णरिन्दु णरिन्दें।
तुरएँ तुरउ गइन्दु गइन्दें।
रहिएं रहिउ रहङ्गु रहङ्गें।
छत्ते छत्तु धयग्गु धयग्गे॥ 25.16.8-9॥

– मेघों के द्वारा सूर्य घेर लिया गया हो। तब दुर्वार शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला वह (लक्ष्मण) धरती को रौंदता हुआ उठा। किसी को कुचलकर उसने पैरों से चूर-चूर कर दिया, किसी को टक्करों के आघात से नष्ट कर दिया। किसी को हाथ से आकाश में उछाल दिया, चिल्लाते हुए किसी को धरती पर गिरा दिया। किसी से मेष की झड़प से भिड़ गया, कोई हुंकार और चपेट से खिन्न हो गया।

– पकड़ने के लिए राजा से राजा, घोड़ों से घोड़ा, गजेन्द्र से गजेन्द्र, रथिक से रथिक, चक्र से चक्र, छत्र से छत्र और ध्वजाग्र से ध्वजाग्र आहत कर दिया गया।

वृक्षों के नामादि का परिगणन कर कवि केवलज्ञान-उत्पत्ति के स्थानों का विस्तृत परिचय राम के माध्यम से देता है।[17]

प्रतिमायोग में स्थित कुलभूषण एवं देशभूषण मुनियों को राम व्यन्तरों, साँपों, बिच्छुओं, लताओं से मुक्त कर धर्मपालन करते हैं -

जं दिट्ठ असेसु वि अहि-णिहाउ।
वलएउ भयङ्करु गरुडु जाउ।। 32.6.1।।

– जब राम ने समस्त सर्प-समूह देखा तो वे भयंकर गरुड़ बन गये।

हज़ारों असुरों द्वारा आक्रान्त आकाश से मुनियों पर किए गए उपसर्ग पर वीर राम-लक्ष्मण विजय प्राप्त करते हैं। इसी बीच मुनीन्द्रों को केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इस रूप में राम को धर्म की एवं मुनीन्द्रों को धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान प्राप्त मुनीन्द्रों की स्वयं इन्द्र देवगणसहित न केवल पूजा करता है वरन् लोगों को रागासक्ति एवं विषयों से दूर रहने का उपदेश भी देता है।[18]

कवि ने जीवोत्पत्ति-रहस्य का उद्घाटन विजयपर्वत राजा को परमेश्वर द्वारा दिए गए उपदेश में किया है -

जिउ तिण्णि अवत्थउ उव्वहइ।
उत्पत्ति- जरा- मरणावसरु।
पहिलउ जें णिवद्धउ देह-घरु।
पुग्गल-परिमाण सुत्तु धरें वि।
कर-चलण चयारि खम्भ करेंवि।
वहु-अत्थि जि अन्तहिं ढङ्किकयउ।
मासिट्टु चम्म-छुह-पङ्किकयउ।
सिर-कलसालङ्किउ संचरइ।
माणुसु वर-भवणहो अणुहरइ।। 33.6.1-5।।

– यह जीव तीन अवस्थाएँ धारण करता है। पहले उत्पत्ति-जरा और मरणावसरवाला देहरूपी घर निबद्ध होता है। पुद्गल परिमाणरूपी सूत्र लेकर, हाथ-पैररूपी चार खम्भे बनाकर, फिर बहुत-सी हड्डियों को आँतों से ढककर, माँस और हड्डियों को चर्मरूपी चूने से सान दिया गया है। सिररूपी कलश से अलंकृत वह चलता है। इस प्रकार मनुष्य वर-भवन का अनुकरण करता है।

सीता-वियोग-प्रसंग में एक बार पुनः स्वयंभूदेव जीव-उत्पत्ति की प्रक्रिया से 'अशुचि भाव' पर विचार करते हैं। विरह में व्याकुल राम को चारण मुनियों द्वारा देह-निस्सारता एवं नश्वरता का ज्ञान इन शब्दों में कराया जाता है -

तहि तेहएँ रस-वस-पूय-भरें।
णव मास वसेवउ देह-धरें।
णव-णाहि-कमलु उत्थल्लु जहिं।
पहिलउ जें पिण्ड-संवन्धु तहिं।
दस-दिवसु परिट्ठिउ रुहिर-जलें।
कणु जेम पइण्णउ धरणियलें।
विहिँ दसरत्तेहिं समुट्ठियउ।
णं जलें डिण्डीरु परिट्ठियउ।
तिहिं दसरत्तेहिं तुव्वउ घडिउ।
णं सिसिर-बिन्दु कुङ्कुमें पडिउ।
दसरत्तें चउत्थएँ वित्थरिउ।
णावइ पवलङ्कुरु णीसरिउ।
पञ्चमें दसरत्तें जाव वलिउ।
णं सूरण-कन्दु चउप्फलिउ।
दस-दसरत्तेंहिं कर-चरण सिरु।
वीसहिं णिप्पण्णु सरीरु थिरु।
णवमासिउ देहहों णीसरिउ।
वड्ढन्तु पडीवउ वीसरिउ॥ 39.8.1-9॥

– उस वैसे रस, वसा और पीप से भरे हुए देहरूपी घर में (जीव को) नौ माह बसना पड़ता है। जहाँ नवनाभिरूपी कमल उभरता है, (नरा) पहला शरीर सम्बन्ध वहीं होता है। दस दिन तक रुधिररूपी जल में रहता है, उसी प्रकार जिस प्रकार धरती पर कण पड़ा रहता है। फिर बीस रात में वह अंकुरित होता है, मानो जल में फेन उत्पन्न हुआ हो, तीस रात में वह बुद्बुद बन जाता है, मानो केशर में बर्फ-कण जम गया हो। चालीस दिन में उसका विस्तार होता है, जैसे प्रवाल का अंकुर निकल आया हो। पचास दिन में वह मुड़ता है तो जैसे मानो चारों ओर से सूक्ष्म जमींकन्द फल गया हो। फिर सौ दिन में कर; चरण और सिर बनते हैं, फिर चार सौ रातों में शरीर स्थित होता है, इस प्रकार नौ माह में शरीर से बाहर निकल आता है और बड़ा होकर उलटा उसे भूल जाता है।

इन्हीं महाव्रतियों से राम धर्म-कर्म और पाप-फल (अनुप्रेक्षाएँ) जानना चाहते हैं। कुलभूषण मुनि धर्म, दुष्कृत कर्म एवं सत्य का फल सुनाते हुए सत्य को सर्वोपरि प्रतिष्ठापित करते हैं। **'सच्चु स-उत्तरु सव्वहँ पासिउ।**[19] उनसे ही राम पाँच महाव्रतों, धर्मानुचरण- मधु, मद्य, माँस का परित्याग, जीव-दया, संल्लेखनापूर्वक मृत्यु, सुकृताचरण- अहिंसा आदि, सत्याचरण, परद्रव्य-त्याग, अपरिग्रह आदि; पाँच अणुव्रत- जीवदया, सत्य-भाषण, अहिंसा, अपरिग्रह, दान; पाँच गुणव्रत- दिशा-प्रत्याख्या, भोगोपभोग आदि; शिक्षाव्रत- त्रिकाल-वन्दन, प्रोषधोपवास व्रत, आहार-दान, संन्यास-धारण, अनर्थदण्ड आदि का विस्तारयुक्त ज्ञान प्राप्त करते हैं।[20]

अरण्यारण्य में तपस्वी मुनि गुप्त एवं सुगुप्त को आहार-दानकर राम-सीता ऋद्धि प्राप्त करते हैं। दुन्दुभि, गन्ध पवन, रत्नावली, साधुकार और कुसुमाञ्जलि शाश्वत दूतों की तरह ये पाँचों आश्चर्य स्वयं प्रकट होते हैं।[21] आहार-दान के फलस्वरूप ही देवों द्वारा दान-ऋद्धि के प्रदर्शन के रूप में राम के घर में साढ़े तीन लाख अत्यन्त मूल्यवान रत्नों की वृष्टि होती है। अन्नदान की प्रशंसा स्वयं सुरवर-समूह करता है -

अण्णे धरिउ भुवणु सयरायरु।
अण्णे धम्मु कम्मु पुरिसायरु॥ 35.1.5॥

– अन्न से ही सचराचर विश्व स्थित है, अन्न से ही धर्म, कर्म व पुरुषार्थ होता है।

दान-ऋद्धि के प्रभाव से ही जटायु को न केवल अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आता है प्रत्युत उसके पंख सोने के, चोंच विद्रुम की, कण्ठ नीलमणि के, पैर वैदूर्यमणि के और पीठ मणियों की हो जाती है। जटायु, जो पूर्वजन्म में राजा दण्डक था, जैन धर्म स्वीकार करने और पाँच सौ साधुओं को आश्रय देने के बाद भी स्वजनों के षड्यन्त्र के कारण उन मुनियों की हत्या जैसा दुष्कर्म कर बैठता है और विनाश को प्राप्त हो विभिन्न नरकों में पाँच सौ बार पीड़ा प्राप्तकर हज़ारों योनियों में परिभ्रमण करता हुआ वर्तमान रूप में जन्म पाता है। स्वर्ग- अच्युत, ब्रह्मलोक, महेन्द्र, सौधर्म, ईशान, सर्वार्थसिद्धि, तीसरा एवं सोलहवाँ स्वर्ग तथा नरक- रत्नप्रभ, शर्कराप्रभ, बालुकाप्रभ, असिपत्र, तम-तमप्रभा आदि का विस्तृत वर्णन इस महाकाव्य में उपलब्ध है।

पाँच णमोकार मन्त्र के उच्चारण का महत्त्व स्वयंभूदेव जिन प्रसंगों में स्थापित करते हैं उनमें महत्त्वपूर्ण है- जटायु का मरणासन्न अवस्था में राम द्वारा पाँच णमोकार मन्त्र के उच्चारण के साथ आठ मूलगुण प्राप्त करना,[22] जिसकी फल-प्राप्ति वह माहेन्द्र स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्ति के रूप में करता है; दूसरे, पंकजरुचि (पूर्वजन्म में धर्मदत्त, भवान्तर में श्रीचन्द्र, तद् अनन्तर श्रीराम) द्वारा मरणासन्न बूढ़े बैल के कान में सुनाया गया पंचणमोकार मन्त्र, जिसके प्रभाव से बैल का जीव जिनभक्त श्रीदत्ता के गर्भ स्थित हो जन्म के अनन्तर वृषभध्वज नाम से विख्यात होता है।[23]

राजा द्रोणघन की पुत्री विशल्या के स्नान-जल से अयोध्यावासियों के व्याधिमुक्त हो जाने पर भरत शाश्वत मोक्ष के स्थान सिद्धकूट जिन-मन्दिर में जाकर त्रिलोकचक्र के स्वामी अरहन्त भगवान् की वन्दना करते हैं। जिन-वन्दन के बाद वे महामुनि-वन्दन करते हैं और कालान्तर में तपश्चरण स्वीकार कर प्रव्रजित होते हैं। ये महामुनि दस प्रकार के धर्म की दिशाएँ बताते, दुस्सह परिषहों, पाँच महाव्रत का भार सहते, तप-गुण-संयम और नियम का पालन करते, तीन गुप्तियों के धारणकर्ता, शान्तिशील, समस्त कषायों से दूर, गर्मी में आतापनी शिला पर तप करनेवाले, भयंकर मरघटों में वीरासन और उक्कुड आसनों में ध्यान मग्न रहनेवाले हैं -

जिणु वन्देंवि वन्दिउ परम-रिसि।
जें दरिसिय-दसविह-धम्म-दिसि॥ 68.6.1 ॥

युद्ध में अपनी विजय सुनिश्चित करने एवं बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि के लिए रावण शान्तिनाथ मन्दिर में जाकर ध्यान, भाव-पूजा एवं द्रव्य-पूजा दोनों करता है -

पट्टणें घोसण देयि जीव अट्ठ दिवस मम्भीसमि।
अच्छमि झाणारूढु वट्टइ सन्तिहरु पईसमि॥ 70.11.10 ॥

– सारे नगर में मुनादी पिटवा दी गयी कि कोई डरे नहीं, और आठ दिन की बात है, मैं ध्यान करने जा रहा हूँ। अब मैं शान्तिनाथ मन्दिर में जाकर ध्यान करूँगा।

अविचल और भारी भक्ति से भरा हुआ प्रत्येक लंकावासी निशाचर जिन-पूजा करता है- 'घरें घरें पडिमउ अहिसारउ।' 71वीं सन्धि के 1 से 11 तक के समस्त घत्ता और पंक्तियाँ जिन-पूजन से सम्बद्ध हैं। वे शिव हैं, जटा-जूटधारी होकर भी जटाओं को उखाड़ डालते हैं -

परं परमपारं सिवं सयल-सारं।
जरा-मरण-णासं जय- स्सिरि-णिवासं॥

x x x

अग्गएँ थुणें वि जिणिन्दहों भुवणानन्दहों महियलें जण्णु-जोत्तु करें वि।
णासग्गाणिय-लोअणु अणिमिस-जोअणु थिउ मणे अचलु झाणु धरें वि॥ 71.11.॥

– हे श्रेष्ठ परमपार, हे सर्वश्रेष्ठ शिव, आपने जन्म, जरा और मृत्यु का अन्त कर दिया है। इस प्रकार भुवनानन्ददायक जिनेन्द्र की स्तुति कर, धरती-तल पर रावण ने नमस्कार किया, अपनी आँखों को नाक के अग्रबिन्दु पर जमाकर अपलक नयन होकर उसने मन में अविचल ध्यान प्रारम्भ कर दिया।

संसार-चक्र की निस्सारता पर केवल मुनिगण ही अपने विचार नहीं रखते अपितु रावण

का भाई विभीषण भी अपने रुदन का कारण रावण के अयश एवं मनुष्य शरीर की अनश्वरता को ही ठहराता है -

एण सरीरे अविणय-थाणे। दिट्ठ-णट्ठ-जल-बिन्दु-समाणे।। 77.4.2।।

– यह मनुष्य शरीर अविनय का स्थान हैं, जल की बूँद के समान देखते-देखते जल जाता है।

वियोग-ज्वाला से सन्तप्त शरीर राम भी जरा-जन्म और मृत्यु-भय से परिचलित संसार-चक्र को निस्सार मानते हैं। रावण के अग्नि-संस्कार के रूप में भी कवि पञ्चभौतिक देह की नश्वरता प्रतिपादित करता है मानो आग भी अपनी काँपती हुई शिखा से कह रही हो-

रे रे जण णीसारउ विट्टलु खलु संसारउ।
दरिसिय-णाणावत्थउ दुक्खा सु वि गत्थउ।। 77.14।।

– अरे-अरे लोगों, यह संसार क्षणभंगुर और निस्सार है। इसमें नाना अवस्थाएँ देखनी पड़ती हैं, यह दुःख का आवास है।

काल का प्रभाव एवं आयु की अनित्यता सर्वविदित है। कवि स्वयंभूदेव महानाग के रूपक की आयोजना द्वारा महाकाल एवं उसकी प्राणग्राहिणी शक्ति का स्वरूप इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं -

विसमहों दीहरहों अणिट्ठियहों।
तिहुयण-वम्मीय-परिट्ठियहों।
को काल - भुयङ्गहों उव्वरइ।
जो जगु जें सव्वु उवराङ्घरइ।
कें वि गिलइ गिलेंवि कें वि उग्गिलइ कहि मि जम्मावसाणे मिलइ।।

X X X

तहों को वि ण चुक्कइ भुक्खियहों काल-भुअङ्हों दूसहहों।
जिण - वयण - रसायणु लहु पियहों जें अजरामरु पउ लहहों।।78.2.।।

– इस त्रिभुवनरूपी वन में महाकालरूपी महानाग रहता है, विषम, विशाल और अनिष्टकारी; उससे कौन बच सकता है! वह संसार से सबका उपसंहार करता है, उसकी जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती, वहाँ-वहाँ मानो विनाश नाच उठता। किन्हीं को वह निगल जाता, और निगल कर उगल देता, किसी से उसकी भेंट जीवन के अन्तिम समय होती।

– उस भूखे और असह्य कालरूपी महानाग से कोई नहीं बचता। इसलिए जिन-वचन-रूपी रसायन को शीघ्र पी लो जिससे अजर-अमर पद पा सको।

केवल जिन-वचनरूपी रसायन के पान से ही अजर-अमर पद पाया जा सकता है।

महाकाल रूपी महानाग का परिवार भी विस्तृत है। यह काल उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी दो नागिनों से घिरा है। एक-एक नागिन के तीन-तीन समय हैं। उसके भी साठ पुत्र हैं जो संवत्सर के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन संवत्सरों की भी दो पत्नियाँ हैं जो उत्तरायण और दक्षिणायन नाम से प्रसिद्ध हैं। चैत्र से फागुन तक उसके छह विभाग हैं। उनके भी कृष्ण और शुक्ल नामक दो पुत्र हैं जिनकी पन्द्रह-पन्द्रह प्राणप्रिय पत्नियाँ हैं। तीनों लोकों में ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसको इसने न डसा हो।[24]

काल का प्रभाव समझकर उद्वेलित हुए इन्द्रजीत, मेघवाहन, मय, कुम्भकर्ण, मारीच आदि रावण-पक्ष के अनेक नरेन्द्र तथा अमरेन्द्र शील धारणकर संन्यस्त हो जाते हैं। मन्दोदरी सहित रावण का समस्त अन्त:पुर भी दीक्षा ले लेता है। लंका में प्रविष्ट हुए अशान्त राम स्वयं शान्तिलाभ हेतु अपनी पत्नी-भाई एवं अनुचरों के साथ शान्तिनाथ मन्दिर में जाते हैं।[25]

विषयासक्ति से निस्तारण हेतु मथुरा का राजा मधु कठोर पाँच महाव्रतों को धारणकर जिन-भगवान् की शरण लेता है। पाँच णमोकार मन्त्र का उच्चारण, के सब सुखों के आदि निर्माता अरहन्त भगवान् सात वर्णों का उच्चारण कर, पुन: शाश्वत सिद्धि-दाता सिद्ध भगवान् के पाँच वर्णों का उच्चारण कर, पुन: उपाध्याय के नौ वर्णों का उच्चारण और अन्त में सर्वसाधुओं के नौ वर्णों का उच्चारण अर्थात् कर्म-निर्जरा हेतु अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु का स्मरण- चिन्तवन, स्वयंभूदेव के शब्दों में शास्त्र की परम्पराएँ बनानेवाले पैंतीस अक्षरों का उच्चारण कर वह आत्मध्यान में स्थित होता है और गजवर पर स्थित ही उसका शरीरान्त होता है।[26]

भक्ति-काल की निर्गुण-सगुण दोनों धाराओं में स्त्री-देह को हेय ठहराया गया है; चाहे भक्त कबीर हों या तुलसीदास। स्वयंभूदेव 'पउमचरिउ' में इन्द्रियासक्ति-विषयभोग एवं मोह का प्रधान कारण नारी को सिद्ध करते हुए नारी-देह एवं चरित्र के तिरस्कार-भर्त्सना का द्वार उन्मुक्त करते दीखते हैं।[27] स्वयं सीता के शब्द **'जिह ण होमि पडिवारी तियमइ'**- (जिससे दुबारा नारी न बनूँ) इसी भाव के पोषक हैं; किन्तु स्त्री-सम्मान एवं आत्म-सम्मान की रक्षा वह स्वयं राज्य के तिरस्कार द्वारा करती है। स्नेह का परित्याग करती वैदेही दायें हाथ से अपने सिर के केश-लोंचकर उन्हें राम के सम्मुख डालकर अटल तपश्चरण अंगीकारकर दीक्षित होती है।[28]

भवान्तर के कर्मफल का भोग व्यक्ति को अगले जन्म में करना ही पड़ता है किन्तु मानव-जन्म प्राप्तकर वह तपश्चरण द्वारा अपने प्रारब्ध को परिवर्तित करने में समर्थ हो सकता है; जिसके लिए आवश्यकता है धर्म-पालन की।

सत्कर्म, अपरिग्रह, तपश्चरण व्यक्ति को ऋद्धि-सिद्धि प्रदान करते हैं और दुष्कर्म उसके कलंक का कारण बनते हैं। सीता, पूर्वजन्म में वेदवती के रूप में किए गए अपने दुष्कर्म का फल अपवाद के रूप में इस जन्म में पाती है। घोर वीर तप साधते हुए बासठ साल बिता, तैंतीस दिनों की समाधि लगाकर वह इन्द्रत्व प्राप्तकर सोहलवें स्वर्ग में सूर्यप्रभ नामक विशाल

विमान में उत्पन्न होती है।[29] हनुमान् तथा लवण-अंकुश भी संसार की क्षण-भंगुरता, अनित्यता से उत्पन्न वैराग्य के कारण क्रमशः धर्मरत्न चारणऋषि एवं अमृतसर महामुनि के समीप जा दीक्षा ले लेते हैं। हनुमान् के साथ सात सौ पचास विद्याधर, सुग्रीव का पुत्र सुपद्म, खर की बेटी अनंगकुसुम, नल की पुत्री श्रीमालिनी, लंकासुन्दरी तथा अन्य आठ हज़ार मनोहर स्त्रियाँ दीक्षा लेती हैं। हनुमान् के माता-पिता पवन और अंजना भी पुत्र-शोक से व्याकुल हो प्रव्रजित होते हैं। हनुमान् कठिन जप-तप कर केवलज्ञान प्राप्तकर वहाँ पहुँचते हैं- **'जेत्थु स य म्भु देउ त हिं पत्तउ'** (जहाँ स्वयं स्वयंभूदेव थे)।

शिव, शम्भु, जिनेश्वर, देव-देव महेश्वर, जिन, जिनेन्द्र, कालंजय, शंकर, स्थाणु, हिरण्यगर्भ, तीर्थंकर, विधु, स्वयंभू, भरत, अरुह, अरहन्त, जयप्रभ, सूरि, केवली, रुद्र, विष्णु, हर, जगद्गुरु, निरपेक्ष परम्पर, परमाणु परम्पर, अगुरु, अलघु, निरंजन, निष्कल, निरवयव और निर्मल आदि नामों से देवताओं, नागों और मनुष्यों द्वारा स्तुत्य ऋषभनाथ का स्वयं इन्द्र महिमा-गायन करते हैं।[30]

लक्ष्मण की मृत्यु से क्षुब्ध हुए मोहासक्त राम माहेन्द्र स्वर्ग में उत्पन्न जटायु एवं कृतान्त देव के प्रयास से 'बोधि' प्राप्त करते हैं और लवण के पुत्र को राजपट्ट बाँधकर सुव्रत नामक चारणऋषि के पास जाकर दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। राम के संन्यास लेते ही शत्रुघ्न, विभीषण, नल, नील, सुग्रीव, अंगद, विराधित आदि सोलह हज़ार राजा धर्म-दीक्षा ले लेते हैं और राम-लक्ष्मण की माताएँ भी सत्ताईस हज़ार स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण करती हैं। राम बारह प्रकार का कठोर तप अंगीकारकर, परीषह सहनकर, गुप्तियों का पालन करते हुए पहाड़ की चोटी पर जा ध्यानलीन होते हैं। रात्रि में उन्हें अवधि-ज्ञान प्राप्त होता है। कोटिशिला पर ध्यानलीन अवस्था में उन्हें माघ माह के शुक्लपक्ष में बारहवीं-रात्रि के चतुर्थ प्रहर में चार घातिया कर्म्मों का विनाश होने पर - 'समुज्जलु परम-णाणु'- 'समुज्ज्वल परम (केवल) ज्ञान' उत्पन्न होता है; और- 'खणें केवल चक्खुहें जाउ सयलु'। चारों निकायों के देव, इन्द्र आदि अपने समस्त वैभव के साथ वहाँ आकर केवलज्ञान-उत्पत्ति का भक्ति-भाव से अनिंद्य पूजन करते हैं।[31]

क्रोध विनाश का मूल कारण है। सीतेन्द्र के माध्यम से कवि स्वयंभूदेव उपशम का आश्रय लेने की मंत्रणा देते हैं -

कोह मूलु सव्वहुँ वि अणत्थहुँ। कोह मूलु संसारावत्थहुँ ॥ 89.10.1 ॥

– क्रोध ही सब अनर्थों का मूल है, संसार-अवस्था का मूल क्रोध ही है।

धर्म-भावना के कारण सीतेन्द्र कालान्तर में अच्युत स्वर्ग को प्राप्त होता है। स्वयं राम भी आदिनाथ भगवान् के निकट चले जाते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं-

गउ रहुवइ कइहि मि दिवसेंहिं तिहुअण-मङ्गल गारौहों।
अजरामर-पुर-परिपालहों पासु स य म्भु-भडारहौं ॥90.12.78 ॥

– कितने ही दिनों के बाद राम भी त्रिभुवन कल्याणकारी अजर-अमरपुरों का पालन करनेवाले आदरणीय आदिनाथ भगवान् के निकट चले गये।

'पउमचरिउ' में धर्म एवं मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग निवृत्तिपरक है। राग की प्रचुरता को समाप्त करने के लिए जिनेन्द्र का स्मरण-चिन्तवन-पूजा की जाती है। स्वयंभूदेव ने दोनों ही प्रकार भाव-पूजा (गुणों का चिन्तवन) एवं द्रव्य पूजा (जल, चन्दनादि अष्टद्रव्य पूजा) का आश्रय महाकाव्य के विभिन्न प्रसंगों में लिया है। जैन धर्म में अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ तथा धर्म भावना नामक बारह भावनाओं को अनुप्रेक्षा के रूप में जाना जाता है। जिनके बार-बार चिन्तवन से कषाय-कलापों में लीन चित्तवृत्तियाँ वीतरागता की ओर प्रेरित होती हैं। कर्ममुक्ति अर्थात् मोक्ष-प्राप्त्यर्थ जैन दर्शन का लक्ष्य रहा है- वीतराग विज्ञानता की प्राप्ति। यह वीतरागता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय की समन्वित साधना से उपलब्ध होती है। इसके अनुसार जीव-अजीव आदि नव-तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप पर किया गया श्रद्धान/दृढ़ प्रतीति अर्थात् स्वात्मप्रत्यक्षपूर्वक स्व-पर भेद या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक सम्यग्दर्शन है। यह मोक्ष का प्रथम सोपान माना गया है।[32]

जिनेन्द्र-पूजा सांसारिक प्राणियों को दु:ख-मुक्त कर मोक्ष की ओर ले जाती है। यह भक्ति मोहासक्ति के त्याग, परीषह-सहन-क्षमता एवं तपश्चरण पर निर्भर करती है। रामचरित मानस में वर्णित भक्ति प्रवृत्तिपरक है- 'रघुपति भगति सुलभ सुखकारी'। सांसारिक मनुष्य इस मार्ग पर चलकर ईश्वर का दर्शन कर सकता है। सन्त-समागम, दम-शम-शील-अपरिग्रह-अहिंसा-दया-सत्याचरण एवं ध्यान का महत्त्व दोनों में समान है। काम-मद-दम्भ का परित्याग दोनों मार्गों में अनिवार्य है। किन्तु प्रवृत्ति मार्ग जहाँ परब्रह्म के अवतार रूप में अलौकिक दर्शन के अनिर्वचनीय आनन्द तक पहुँचाता है, वहाँ पहुँच समस्त बन्धन स्वत: ही कट जाते हैं; वहीं निवृत्ति मार्ग विचारमूलक वैराग्य, तत्त्वज्ञान (पउमचरिउ में केवलज्ञान) एवं ध्यान/समाधि द्वारा मोक्ष तक पहुँचाता है।

शृंगार रस के निर्वाह हेतु स्वयंभूदेव ने परस्पर अनुराग-वर्णन,[33] अंग-सौन्दर्य-वर्णन, काम-दशा-चित्रण, सुरति-चित्रण, रमण आदि तथा विप्रलम्भ का विधान किया है। कैकेयी, कल्याणमाला, सीता, विशल्या, कमलोत्सवा, मन्दाकिनी, चन्द्रभागा, मन्दोदरी तथा रावण के समस्त अन्त:पुर के आंगिक सौन्दर्य-चित्रण, नख-शिख-वर्णन में कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण आदि अलंकार-मणियाँ बिखेर-सी दी हैं।[34]

हरि पहरन्तु पसंसिउ जावें हिं।
जाणइ णयणकडक्खिय तावें हिं।
सुकइ-कह व्व सु-सन्धि सु-सन्धिय।

सु-पय सु-वयण सु-सद्द सु-वद्धिय।
थिर-कलहंस-गमण गइ - मन्थर।
किस मज्झार णियम्ब सु-वित्थर।
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी।
णं पिम्पिलि - रिञ्छोलि विलिण्णी।
अहिणव - हुण्ड पिण्ड पीण-त्थण।
णं मयगल उर-खम्भ-णिसुम्भण।
रेहइ वयण - कमलु अकलंकउ।
णं माणस-सरें वियसिउ पंकउ।
सु-ललिय-लोयण ललिय-पसण्णहँ।
णं वरइत्त मिलिय वर-कण्णहँ।
घोलइ पुट्ठिहिँ वेणि महाइणि।
चन्दण-लयहिँ ललइ णं णाइणि॥ 38.3.1-9॥

– जब वह प्रहार करते हुए लक्ष्मण की प्रशंसा कर रहा था, तभी उसे सीता दिखाई दी, जो सुकवि की कथा की तरह सुन्दर सन्धियों से जुड़ी हुई थी, सुन्दर पद (चरण और पद); सुवचन (सुन्दर बोली और वचन), सुशब्द (सुन्दर शब्दोंवाली); और सुबद्ध (अच्छी तरह निबद्ध) थी। स्थिर कलहंस के समान चलनेवाली, गति में मन्थर, मध्य में कृश, नितम्ब में अत्यन्त विस्तारवाली, नाभिप्रदेश से निकली हुई रोमराजि इस प्रकार थी मानो चींटियों की कतार विलीन हो गयी हो। जो अभिनव (हुण्ड) शरीर, पीन स्तनोंवाली थी मानो उररूपी खम्भों को नाश करनेवाला मतवाला गज हो। उसका कलंकरहित मुख-कमल शोभित है, मानो मानसरोवर में कमल खिला हुआ हो। सुन्दर लोचन ऐसे हैं मानो ललित प्रसन्न श्रेष्ठ कन्याओं को वर मिल गये हों। उसके पुट्ठों पर वेणी इस प्रकार व्याप्त है मानो चन्दन-लताओं से नागिन लिपटी हुई हो।

वाल्मीकि के समान ही स्वयंभूदेव ने पुरुष-सौन्दर्य का चित्रण किया है। लक्ष्मण-राम, रावण, हनुमान के दिव्य सौन्दर्य पर क्रमशः कल्याणमाला-वनमाला-जितपद्मा, सीता, मन्दोदरी, लंकासुन्दरी आदि आकृष्ट हो उनसे परिणय कर लेती हैं।

सीता का पट-निर्मित चित्र का सौन्दर्य भामण्डल को काम की दस दशाओं तक पहुँचाता है,[35] तो लक्ष्मण का अंग-सौष्ठव एवं सौन्दर्य कल्याणमाला को -

पहिलएँ कहों वि समाणु ण वोल्लइ।
वीयएँ गुरु णीसासु पेमल्लइ।

तइयएँ सयलु अंगु परितप्पइ।
चउथएँ णं करवत्तेंहिं कप्पइ।
पञ्चमें पुणु पुणु पासेइज्जइ।
छट्ठएँ वारवार मुच्छिज्जइ।
सत्तमे जलु वि जलहु ण भावइ।
अट्ठमें मरण-लीला दरिसावइ।
णवमएँ पाण पडन्त ण वेयइ।
दसमएँ सिरु छिज्जन्तु ण वेयइ।। 26.8.4-8 ।।

– पहली अवस्था में वह किसी समान व्यक्ति से बात नहीं करता, दूसरी में लम्बे नि:श्वास छोड़ने लगता है, तीसरी में सारे अंग सन्तप्त हो उठते हैं, चौथी में जैसे करपत्र से काटा जा रहा हो, पाँचवीं में बार-बार पसीना आने लगता है, छठी में बार-बार मूर्च्छा आने लगती है, सातवीं में जल या जल से गीला कपड़ा अच्छा नहीं लगता, आठवीं में वह मृत्युलीला दिखाता है; नौवीं में नहीं जाते हुए प्राणों को नहीं जानती; दसवीं में फटते हुए सिर को नहीं जानती।

वहीं रावण सीता के सौन्दर्य पर लुब्ध अपनी सुध-बुध खो बैठता है -

पहिलएँ वयणु वियारेहिं भज्जइ।
पेम्म-परव्वसु कहों वि ण लज्जइ।
वीयएँ मुह-पासेउ वलग्गइ।
सरहसु गाढालिंगणु मग्गइ।
वीयएँ अइ विरहाणलु तप्पइ।
काम-गहिल्लउ पुणु पुणु जम्पइ।
चउथएँ णीससन्तु णउ थक्कइ।
सिरु संचालइ भउँहउ वंकइ।
पञ्चमें पञ्चम - झुणि आलावइ।
विहसेंवि दन्त-पन्ति दरिसावइ।
छट्ठएँ अंगु वलइ करु मोडइ।
पुणु दाढीयउ लएप्पिणु तोडइ।
वट्टइ तल्लवेल्ल सत्तमयहों।
मुच्छउ एन्ति जन्ति अट्ठमय हों।

णवमउ वट्टइ मरणहों दुक्कउ।

दसमएँ पाणहिँ कह व ण मुक्कउ ॥ 38.5.1-9 ॥

– पहली अवस्था में उसका मुख विकारों से भग्न हो जाता है, प्रेम के वशीभूत वह किसी से भी लज्जित नहीं होता। दूसरी में मुख से पसीना निकलने लगा और वह हर्षपूर्वक प्रगाढ़ आलिंगन माँगने लगता। तीसरी में वह विरहानल से अत्यधिक सन्तप्त हो उठता। काम से ग्रस्त होकर वह बार-बार बोलता। चौथी में निःश्वास लेते हुए नहीं थकता। सिर हिलाता और भौंहों को टेढ़ी करता। पाँचवीं में पंचम स्वर में अलाप करता और हँसकर अपनी दन्तपंक्ति दिखाता। छठी में शरीर को मोड़ता और हाथ मोड़ता फिर दाढ़ी को पकड़कर नोचता। सातवीं अवस्था में तड़फने लगता। आठवीं में मूर्च्छा आती और जाती। नौवीं में मृत्यु निकट आ पहुँची। दसवीं अवस्था में वह प्राणों से किसी प्रकार मुक्तभर नहीं हुआ।

यह नहीं, सीता का सान्निध्य प्राप्त करनेवाले राम के प्रारब्ध की वह भूरि-भूरि प्रशंसा करता है -

जेण समाणु एह धण जम्पइ। मुह-मुहेण तम्बोलु समप्पइ।

X X X

जं आलिङ्इ वलय-सणाहहिँ। मालइ-माला-कोमल-वाहहिँ॥ 38.4 ॥

– जिसके साथ यह कन्या बात करती है, बार-बार उन्हें पान समर्पित करती है। जो वह वलयों से सहित, मालती-माला के समान कोमल बाहों से आलिंगन करती है।

सुरति-चित्रण[36] एवं रमण के प्रसंग भी 'पउमचरिउ' में विद्यमान हैं।

इस प्रकार 'पउमचरिउ' समाज, नीति की तुलना में भक्ति, शृंगार, वीर-भाव से पूर्ण सुन्दर- 'वुहयण-मण-सुह-जणणो' व्याकरण से दृढ़ सन्धि-युक्त, आगम का अंगभूत, प्रमाणों से पुष्ट पदयुक्त काव्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

---

1. डॉ. राकेश गुप्त, साहित्यानुशीलन, पृ. 254
2. वही, पृ. 255
3. स्वयंभूदेव, पउमचरिउ, सन्धि-90.14
4. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, पृ. 15.25-26
   अध्यात्म रामायण, बालकाण्ड, चतुर्थ/17
   मानस, बालकाण्ड, पृ. 207
   साकेत, अष्टम सर्ग, पृ. 137
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 63

6. रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड, 34-35
7. पउमचरिउ, 22.8.9
8. वही, 67.3.1-3
9. वही, 26.14.9
10. वही, 31.11.4-9; 13.1-7
11. वही, 33.12.3-9; 13.1-2
12. पउमचरिउ-2, पृ. 16, 80, 116, 153, 182, 198, 280, 294, 322 आदि
13. वही, 66.14.1
14. वही, 23.10.1-13
15. वही, 23.15.9
16. वही, 24.6.4
17. वही, 32.4.1-11, 32.5.1-7
18. वही, 32.14.9
19. वही, 34.4.9
20. वही, 34.4-8
21. वही, 34.13.9
22. वही, 39.2.3-8
23. वही, 84.9.2-3
24. वही, 78.4.1-8
25. वही, 78.11.1-13
26. वही, 80.13.1-8
27. वही, 39.6-7.1-9; 81.5.1-10; 83.17.9
28. वही, 83.18.1-2
29. वही, 85.12.3-9
30. वही, 87.2.10
31. वही, 89.7.1-6
32. अपभ्रंश भारती, 11-12, डॉ. राजीव प्रचण्डिया का आलेख, पृ. 44, 48, 49
33. वही, 31.1-4

34. वही, 23.8.2-5, 26.10, 69.21.1-14, 33.11.4-8, 86.5.1-8 41.4.1-9, 72.5.2-11

35. वही, 21.9.1-9

36. वही, 23.11.1-8, 86.12.3-6, 73.14.1-6

'अंशुमान्-ऋत'
पिलग्रिम लॉज कम्पाउण्ड
मल्लीताल, नैनीताल

तहिं उज्जेणिपुरी परिणिवसइ

इह जंवूदीवए
अमरालय-दाहिण-दिसि भायए वर-णंदण-तरुवर-सुच्छायए।
भरह-वरिसि सरि-सरयर-सुंदरे कीलण-मण-सुर-भूसिय-कंदरे।
अत्थि विसउ सव्वत्थ सणामें अइ-वित्थिणु अवंती णामें।
जहिं सासेहिं विवज्जिय णाऽवणि मुणि-पय-रय-वस-फंसण-पावणि।
जहि ण कोवि कंचण-धण-धण्णहिं मणि-रयणिहिं परिहरिउ खण्णहिं।
तिण दव्वु व वंधव-सुहि-सयणहिं जिण-भत्तिए अइ-वियसिय-वयणहिं।
रूव सिरि वि ण रहिय-सोहग्गें आमोइय अमियासण-वग्गें।
सोहग्गु वि णय-सीलु णिरुत्तउ सीलु ण सुअण पसंस वि उत्तउ।
णिज्जल णई ण जलु वि ण सीयलु अकुसुमु तरु वि ण फंसिय-णहयलु।
तहिं उज्जेणिपुरी परि-णिवसइ जा देवाह मि माणइं हरसइ।
घत्ता – घर-पंतिहिं मणि-दिप्पंतिहिं उवहसियाऽमर-मंदिर।
वहु हट्टहिं जण-संघट्टहिं वुह-यण-यणाणंदिर।। वड्ढमाणचरिउ 7.9.।।

- जम्बूद्वीप में सुमेरु पर्वत के दक्षिणीदिशा-भाग में श्रेष्ठ नन्दन वृक्षों की सघन छायावाले, नन्दी-सरोवरों से सुन्दर एवं क्रीडाशील देवों से भूषित घाटियोंवाले भरतवर्ष में समस्त समृद्धियों से सम्पन्न स्वनामधन्य एवं अतिविस्तीर्ण अवन्ती नामक देश है, जहाँ की पृथिवी (कहीं भी) धान्य से रहित (दिखाई) नहीं (देती) है, जहाँ की भूमि मुनिपदों की रज:स्पर्श से पवित्र है, जहाँ कोई भी पुरुष ऐसा न था जो कांचन, धन-धान्य तथा रम्य मणि-रत्नों से रहित हो, उस द्रव्य के उपबन्ध से जहाँ की वसुधा पर सज्जनगण जिनभक्ति से अति विकसित वदन होकर रहते हैं, जहाँ की कामिनियाँ रूपश्री से रहित नहीं हैं तथा जो मत्तगज की लीलागति से गमन करती हैं। रूपश्री भी ऐसी न थी जो कि सौभाग्य से रहित हो और जो अमृताशन वर्ग (देवगणों) से अनुमोदित न हो, सौभाग्य भी ऐसा न था जो विनयशील युक्त न हो, शील भी ऐसा न था जो सुजनों की प्रशंसा से युक्त न हो। जहाँ की नदियाँ ऐसी न थीं जो जलरहित हों। जल भी ऐसा न था कि जो शीलता से युक्त न हो। जहाँ के वृक्ष कुसुमरहित नहीं है तथा ऐसा कोई वृक्ष न था जो नभस्तल को स्पर्श न करता हो। उस अवन्ति देश में उज्जयिनी नामकी एक पुरी है जो देवों के मन को भी हर्षित करती है।

घत्ता – जिस उज्जयिनी नगरी की बुधजनों के नेत्रों को आनन्दित करनेवाली मणियों से दीप्त यह पंक्तियाँ देव मन्दिरों (स्वर्ग) पर हँसती-सी प्रतीत होती हैं। जहाँ अनेक हाट-बाजार लगते हैं, जिनमें लोगों की भीड़ लगी रहती है।

अनु. – डॉ. राजाराम जैन

पउमचरिउ की सीता

- श्रीमती स्नेहलता जैन

■

समाज में सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए शारीरिक क्षमता के आधार पर साधारणतया महिलाओं का कार्य-क्षेत्र घर व पुरुषों का कार्य-क्षेत्र घर से बाहर निश्चित किया गया है। तदर्थ बच्चों का लालन-पालन, घर की सुन्दर व्यवस्था, शिल्प, संगीत आदि जीवन के सुखों के लिए अत्यन्त आवश्यक शिक्षा जैसे मधुर कार्यों पर नारी का पूरा अधिकार होने से वह केवल नारी न होकर कला की अधिष्ठात्री लगती है। उसके भावों में हृदय की कोमलता होती है। इसके विपरीत पुरुषों का कार्य-क्षेत्र घर के बाहर होने से उन्हें अपने क्षेत्र के विकास करने हेतु हृदय से ज्यादा बुद्धि पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिए उनके भावों में भी बुद्धि की कठोरता होना स्वाभाविक है। फिर भी कोमल भावों के मंजुल अंक पर पली हुई स्त्रियों के साहचर्य से कठोर पुरुषों को भी कोमल भावों का अनुभव होता है। इस प्रकार पुरुष व महिलाएँ दोनों ही अपने-अपने पथ के कर्त्तव्य का निर्वाह कर सुख एवं शान्ति से जीवनयापन करते हैं।

वस्तुतः ऐसा समतल जीवन जीना सभी के लिए हमेशा आसान नहीं है। विषम परिस्थितियों में अपरिहार्य कारणों से या अपनी विशेष योग्यता का उपयोग करने की महत्वाकांक्षा से महिलाओं को भी घर से बाहर निकलना पड़ा है। आज हम देख ही रहे हैं कि नौकरी व व्यवसाय से लेकर विज्ञान तथा तकनीकी कार्यों में भी वे पुरुषों का सहयोग करते हुए आगे बढ़ रही हैं।

इन सभी महिलाओं को अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में विकसित होते देखकर अपार हर्ष

होता है लेकिन गहरा अफसोस भी होता है मात्र उन महिलाओं पर जिन्होंने घर से बाहर, अपना कार्य-क्षेत्र तो बदल लिया है लेकिन उसके अनुरूप अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं किया। इससे वे पुरुषों का पद ग्रहण करने की स्पर्द्धा में तो पड़ ही रही हैं साथ ही अपने स्त्रीत्व-रूप मूलाधार को भी नष्ट किये जा रही हैं। परिणामतः बहिर्मुख होती हुईं वे ऐश्वर्यवती महिलाओं के रूप-रंग, हाव-भाव, केश-विन्यास आदि की तरफ इस कदर बढ़ रही हैं कि आईने में वे अपने चित्र को दूसरी स्त्रियों के चित्र में कल्पित कर देखती हैं। इससे उन्हें अपनी मूल ज्योति की ओर देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। दिशा-शून्य होकर केवल तृष्णा की पूर्ति के लिए दौड़ती हुई उन्हें देखकर लगता है कि वह समय अब ज्यादा दूर नहीं जब स्त्रियों की मर्यादा का गौरव लुप्त हो जायेगा। ऐसे में अब इन महिलाओं के स्त्रीत्व की रक्षा हेतु उन महिलाओं को आदर्श रूप में रखने की आवश्यकता है जो सदियों से आत्मिक विकास के अनमोल रत्न रही हैं।

अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयंभू द्वारा रचित 'पउमचरिउ' काव्य की नायिका सीता भी ऐसा ही आदर्श रत्न है जो प्रत्येक महिला को सहज चित्त, शीलवान, गुणानुरागी तथा नीतिज्ञ बनने का सन्देश देती है। वह यह भी घोषणा करती है कि इन गुणों को अपनाकर आज भी वह विश्व के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति के लुप्त होते हुए गौरव को पुनः प्रतिष्ठित स्थान दिलवाने में समर्थ है।

'पउमचरिउ' की यह सीता नारी-सुलभ सहज भावों से युक्त होने से सहज चित्त है। इस रूप में वह कभी भयभीत होकर करुण विलाप करती हुई अपने भाग्य को कोसती नज़र आती है तो कभी मातृत्व भाव से शुभकामनाएँ देती हुई दिखती है। वही सीता रावण द्वारा हरण किये जाने पर राम से वियुक्त होती है तो अपने शील की रक्षा के प्रयत्न में कठोर बन जाती है। उसके जीवन में शील के सौन्दर्य को विकृत करनेवाले अनेक उपसर्गकारी प्रसंग आते हैं किन्तु सीता उपसर्गों की उस घड़ी में अविचलित होकर अपने शील की रक्षा तो करती ही है साथ ही उपसर्ग करनेवालों को भी प्रभावहीन कर देती है। शील-सौन्दर्य को मलिन करनेवाले ये उपसर्ग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में हुए हैं। सीता ने भी अपने शील की रक्षा में उन्हीं उपसर्गों के ठीक अनुरूप भिन्न-भिन्न रूपों में ही अपने विवेक का उपयोग किया है।

इस तरह इन सहज, कोमल तथा शील की रक्षा में कठोर भावों से युक्त सौन्दर्य को प्राप्त सीता के जीवन के पक्षों को कवि स्वयंभू ने अपने 'पउमचरिउ' में बहुत ही सरल एवं सुन्दर रूप में संजोया है जो इस प्रकार है -

1. नारी-सुलभ सहज भावों से युक्त सीता

भक्तिभाव से ओत-प्रोत - हिमालय से निकली गंगा नदी, ताराओं से अलंकृत

ध्रुवतारा, पवित्रता से ढकी हुई शास्त्र की शोभा-सदृश दिखनेवाली सुन्दर सीता ने भक्ति योग से स्तुतिकर राम के सुघोष वीणा बजाने पर चौसठ भुजाओं का प्रदर्शन कर भक्ति-भावपूर्वक नृत्य किया तथा पुलकित मन राम के साथ मुनिराज की आहार-चर्या पूरी की।[1]

भय से त्रस्त - वंशस्थल को आहत कर लौटे हुए लक्ष्मण को देखकर सीता भय से काँपती हुई कहती हैं- वन में प्रवेश करने के बाद भी, विशाल लतामण्डप में बैठे होने पर भी सुख नहीं है, लक्ष्मण जहाँ भी जाते हैं वहाँ कुछ न कुछ विनाश करते रहते हैं।[2]

करुणा से आप्लावित - रावण की बहन चन्द्रनखा ने राम और लक्ष्मण पर आसक्त होकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने के लिए रोना शुरू किया तो सीता उनके माया भाव को नहीं समझती हुई करुणा से बोली- 'राम ! देखो यह कन्या क्यों रोती है? समय से छिपा हुआ दु:ख ही मानो इसे उद्वेलित कर रहा है।'[3] (आगे यही चन्द्रनखा सीता-हरण का कारण बनी।)

असहाय भाव - लक्ष्मण के शक्ति से आहत होने पर तथा राम के दु:खी होने की दशा का समाचार सुनकर सीता दहाड़ मारकर रोती हुई अपने कठोर भाग्य को कोसने लगी- 'अपने भाई और स्वजनों से दूर, दु:खों की पात्र, सब प्रकार की शोभा से शून्य मुझ जैसी दु:खों की भाजन इस संसार में कोई भी स्त्री न हो!'[4]

लोकविश्वास में आस्था - दायीं आँख फड़कने पर लोक विश्वास में आस्था रखनेवाली सीता सोचती है- 'नहीं मालूम क्या होगा ? एक बार जब दायी आँख फड़की थी तो अयोध्या से निर्वासन हुआ था तब देश-देश भटकते असह्य दु:ख झेलते रहे। उसके बाद युद्ध से मुक्त होकर किसी तरह कुटुम्ब से मिल सके। इस समय फिर आँख फड़क रही है नहीं मालूम क्या होगा ?'[5]

कर्म-सिद्धान्त के प्रति निष्ठा - राम ने जब लोगों के कहने पर सीता को वन में निर्वासित किया तब उस समय में भी सीता अपना ही दोष देखती है और कहती है - 'मुझ पापिन ने पिछले जन्म में कोई भयंकर पाप किया है, शायद मैंने किसी सारस की जोड़ी का बिछोह किया होगा! हे वरुण, हे पवन, हे आग, हे सुमेरु पर्वत ! तुम भी तो वहीं थे, परन्तु तुम में से एक ने भी इसका विरोध नहीं किया!'[6]

सतर्कता - लंका नगरी में हनुमान से राम की वार्ता जानकर सीता प्रारम्भ में तो प्रसन्न हुई किन्तु बाद में आशंकित होकर सोचने लगी- 'यह राम का ही दूत है या कोई दूसरा ही आया है! यहाँ तो बहुत-से विद्याधर हैं, मैं तो सभी में सद्भाव देख लेती हूँ। पहले चन्द्रनखा विवाह का प्रस्ताव लेकर आयी और बाद में किलकारी मारकर हमारे ऊपर ही दौड़ी। तब विद्याधर ने सिंहनाद कर मेरा अपहरण कर मुझे राम से अलग कर दिया। लगता है यह भी किसी छल से मेरा मन का थाह लेना चाहता है!'[7]

वात्सल्य भाव - खगेश्वर जटायु अपने पूर्वभव के स्मरण से यह जानकर कि मुझ पापी ने 500 मुनियों को पीड़ित किया है, प्रलाप करते हुए अश्रुधार छोड़ने लगा। तभी मातृतुल्य सीतादेवी ने उस जटायु को आशीर्वचन देते हुए कहा- 'हे मेरे पुत्र ! तुम शीघ्र बढ़ो और सुख धारण करो।'[8]

2. कठोर भावों से युक्त सीता

रावण के सम्मुख सीता -

दृढ़ता - सीता को हरकर ले जाते हुए रावण समुद्र के मध्य सीता से यह कहकर कि हे पगली ! तुम मुझे क्यों नहीं चाहती, महादेवी के पट्ट की इच्छा क्यों नहीं करती? आलिंगन करना चाहता है। तब अपने शील की रक्षा में तत्पर सीता यह कहकर भर्त्सना करती है- 'हे रावण तुम थोड़े ही दिनों में युद्ध में राम के तीरों से जीत लिए जाओगे।'

इस भर्त्सनारूपी अस्त्र ने ही रावण को स्वयं के द्वारा गृहीत व्रत का स्मरण दिलाया। उस व्रत को स्मरणकर रावण सोचता है- 'मुझे भी अपने व्रत का पालन करना चाहिए, बलपूर्वक दूसरे की स्त्री को ग्रहण नहीं करना चाहिए।'

अपनी दृढ़ता से ही सीता ने पति की वार्ता सुनने तक लंकानगरी में प्रवेश करने से मनाकर नन्दन वन में ही ठहरने के लिए रावण जैसे पराक्रमी शासक को भी राजी कर लिया।[9]

पुनः रावण सीता के समक्ष याचक बनकर गिड़गिड़ाता है- 'हे देवी ! हे सुन्दरी ! मैं किससे हीन हूँ, क्या मैं कुरूप हूँ या अर्थ-रहित हूँ ? क्या मैं सम्मान, दान और रण में दीन हूँ ? बताओ तुम किस कारण से मुझे नहीं चाहती ?'

तब सीता उसके याचक रूप का तिरस्कार करते हुए कहती है कि- 'हे रावण ! तुम हट जाओ, तुम मेरे पिता के समान हो! परस्त्री को ग्रहण करने में कौन-सी शुद्धि होती है? जब तक तुम्हारे अपयश का डंका नहीं बजता और लंकानगरी नाश को प्राप्त नहीं होती तब तक हे नराधिप, तुम राघवचन्द्र के पैर पकड़ लो।'[10]

धार्मिक आस्था - रावण ने यह सोचकर कि- शायद यह भय के वश मुझे चाहने लगे उसको भयभीत करने के लिए भयंकर उपसर्ग करने शुरू किये। उस भयानक उपसर्ग को देखने से उत्पन्न हुए रौद्र ध्यान को चूर-चूर कर तथा अपने मन को धर्म-ध्यान से आपूरित कर सीता ने प्रतिज्ञा ले ली कि जब तक मैं गम्भीर उपसर्ग से मुक्त नहीं होती तब तक मेरे चार प्रकार के आहार से निवृत्ति है। इस तरह धर्म की ताकत से सीता ने भयानक उपसर्गों को भी सहन कर लिया।[11]

अलोभ प्रवृत्ति - सीता को वश में करने के लिए अपनी ऋद्धि के प्रभाव से रावण ने उसे पुष्पक विमान पर चढ़ाकर बाज़ार की शोभा दिखायी तथा चूड़ा, कण्ठा, करधनी आदि

महादेवी का प्रसाधन स्वीकार करने के लिए कहा। तब सीता ने उन सभी ऋद्धियों का तिरस्कार कर कहा- 'तुम अपनी यह ऋद्धि मुझे क्यों दिखाते हो ? यह सब अपने लोगों के मध्य दिखाओ। उस स्वर्ग से भी क्या जहाँ चारित्र का खण्डन है। मेरे लिए तो शील का मण्डन ही पर्याप्त है।'

सीतादेवी की इस अलोभ प्रवृत्ति ने ही रावण को अपनी निन्दा करने को विवश कर दिया। वह कहता है- 'मैं किस कर्म के द्वारा क्षुब्ध हूँ जो सब जानता हुआ भी इतना मोहित हूँ। मुझे धिक्कार है कि मैंने इसकी अभिलाषा की!' और स्वयं को धिक्कारते हुए वह सीता को छोड़कर वहाँ से चला गया।[12]

पति के प्रति एकनिष्ठता - एक दिन पुनः अपने आपको चन्दन से अलंकृत कर, अमूल्य वस्त्र धारणकर तथा त्रिजगभूषण हाथी पर बैठकर वह रावण सीता के पास पहुँचा। वहाँ अपने पराक्रम का बखान करता हुआ राम, लक्ष्मण, सुग्रीव, नल, नील व भामण्डल को भी मारने की धमकी देने लगा और कहा कि 'तुम जो अभी तक बची हुई हो वह मात्र मेरे संकल्प के कारण ही समझो।' तब रावण ने अपनी विद्या से राम आदि को मरते हुए दिखाकर तथा नाना रूपों का प्रदर्शन कर सीता को भयभीत करना प्रारम्भ किया।

तब पतिव्रत का पालन करनेवाली सीता ने कहा- 'हे दशमुख ! राम के मरने के बाद मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। जहाँ दीपक होगा वहीं उसकी शिखा होगी, जहाँ चाँद होगा वहीं चाँदनी होगी और जहाँ राम होंगे सीता भी वहीं होगी।' यह कहते-कहते सीता मूर्च्छित हो गयी।

सीता के इस दृढ़ शीलव्रत ने ही रावण को दूर हटने व अपनी निन्दा करने को विवश किया। वह अपनी निन्दा करते हुए कहने लगा- 'धिक्कार है मुझे, परस्त्री को सतानेवाले मुझसे अच्छे तो जलचर, थलचर और वन के पशु हैं। तिनका होना अच्छा, पत्थर-लोहपिण्ड व सूखा पेड़ होना अच्छा परन्तु निर्गुण, व्रतहीन, धरती का भारस्वरूप आदमी का उत्पन्न होना ठीक नहीं।' इस तरह बार-बार अपनी निन्दा कर उसने कहा- 'कल मैं इन्द्र की तरह युद्ध में राम व लक्ष्मण को बन्दी बनाऊँगा और उन्हें सीतादेवी को सौप दूँगा जिससे मैं दुनिया की निगाह में शुद्ध हो सकूँ।'[13]

इस तरह सीता ने रावण द्वारा किये गये सभी उपसर्गों को कठोरता से अपने विवेक के बल पर सहन कर अपने शीलरूप आत्म-सौन्दर्य की रक्षा की तथा रावण को भी धर्म के मार्ग पर स्थित किया।

मन्दोदरी के सम्मुख सीता

निर्भयता से अनीति का विरोध - रावण ने अपनी पत्नी मन्दोदरी को सीता के लिए अपना दूत-कर्म करने के लिए बाध्य किया, तब मन्दोदरी सीता के पास गयी। वहाँ जाकर

मन्दोदरी ने रावण के वैभव का तरह-तरह से बखान करने के बाद कहा - 'तुम लंकेश्वर दशानन की महादेवी बन जाओ।'

इस पर क्रुद्ध होकर सीता ने अत्यन्त निष्ठुर वचन में कहा- 'उत्तम स्त्रियों के लिए यह उपयुक्त नहीं है, तुम्हारे द्वारा रावण का यह दूतत्व कैसे किया जा रहा है ? शायद तुम स्वयं किसी पर-पुरुष में इच्छा रखती हो, उसी कारण मुझे यह दुर्बुद्धि दे रही हो !' सीता के इन वचनों से मन्दोदरी भी काँप गयी।[14]

शील के प्रति दृढ़ता - पुन: मन्दोदरी ने सीतादेवी से कहा - 'यदि तुम लंकानरेश को किसी भी तरह नहीं चाहोगी तो आक्रन्दन करती हुई तुम करपत्रों से तिल-तिल काटी जाओगी और एक मुहूर्त में निशाचरों को सौंप दी जाओगी।' इस पर भी सीता भयभीत नहीं हुई और बोली- 'चाहे आज करपत्रों से काटो, चाहे शृगाल और श्वानों को सौंप दो, जलती हुई आग में डाल दो तो भी दुष्ट पापकर्मा पर-पुरुष से इस जन्म में मेरी निवृत्ति है।'[15]

सद्गुणप्रियता - अन्त में मन्दोदरी ने सीता की सैकड़ों चापलूसियाँ करते हुए कहा- 'हे सीते, मैं तुमसे अभ्यर्थना करती हूँ कि तुम रावण को चाहो और महादेवी-पट्ट स्वीकार करो।' तभी उनकी अभ्यर्थना का आदर कर कुशाग्र बुद्धि, गुणानुरागी सीता ने कहा- 'मैं सचमुच रावण को चाहूँगी यदि वह जिन-धर्म के अनुरूप आचरण करे तथा अपने शील की रक्षा कर मुझे राम को सौंप दे। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह मुझे समुद्र में फैंक दे।'[16]

हनुमान के सम्मुख सीता

नीति-निपुण - लंका नगरी में हनुमान ने जब सीतादेवी से अपने कन्धे पर चढ़कर राघव के पास चलने के लिए कहा तब लोक की सूक्ष्म अदृश्य वृत्ति से परिचित नीति-निपुण सीता कहती है- 'कुलवधू के लिए अपने कुलघर भी जाना हो तो पति के बिना ठीक नहीं। जनपद के लोग निन्दाशील होते हैं, उनका स्वभाव दुष्ट और मलिन होता है। जहाँ जो बात अयुक्त होती है वे वहीं आशंका करने लगते हैं। उनके मन का रंजन इन्द्र भी नहीं कर सकता। अत: मैं श्रीराम के साथ ही अपने जनपद जाऊँगी।' इस तरह नीति-निपुण सीतादेवी ने लोक-निन्दा से अपने आत्म-सौन्दर्यरूप शील को बहुत सावधानी से बचाकर सुरक्षित रखा।[17]

विभीषण के सम्मुख सीता

शील-समादर - रावण की मृत्यु के पश्चात् तथा मन्दोदरी के दीक्षा ग्रहण करने के बाद सूर्योदय होने पर विभीषण नन्दन वन में सीतादेवी के लिए आभूषण व वस्त्र लेकर गये तो सीतादेवी ने कहा- 'यह सब मेरे लिए कचरे का ढेर है, चाहे मन में उन्माद ही क्यों न हो फिर भी पति से मिलते समय कुलवधू का एकमात्र प्रसाधन शील ही होता है।'[18]

विभीषण ने पूछा - 'आप हनुमान के साथ क्यों नहीं गयी ?'

इस पर सीता ने कहा - 'बिना पति के जानेवाली कुलपत्नी पर भी लोग कलंक लगा देते हैं। पुरुषों के चित्त जहर से भरे होते हैं। कलंकरहित होने पर भी कलंक दिखाने लगते हैं।'[19]

राम के सम्मुख सीता

स्वाभिमान – शील की रक्षा में सदैव सावधान व जागरूक रहनेवाली सीता के इस महान शील का उनके पति राम भी सम्मान करने के स्थान पर जब यह कहकर अपमान करते हैं कि 'स्त्री चाहे कितनी ही कुलीन और अनिन्द्य हो वह बहुत निर्लज्ज होती है। अपने कुल में दाग़ लगाने से तथा इस बात से भी कि त्रिभुवन में उनके अपयश का डंका बज सकता है वह नहीं झिझकती। धिक्कारनेवाले पति के सामने अंग समेटकर आकर वह कैसे मुख दिखाती है !'

तब पुरुष की कलुषित वृत्ति से अपने शील की रक्षा में तत्पर सीता का मौन एकाएक आक्रोश में बदल गया। वह बोली- 'तुमने यह सब क्या बोलना प्रारम्भ किया है ? मैं आज भी सतीत्व की पताका ऊँची किये हुए हूँ इसलिये तुम्हारे देखते हुए मैं भी विश्रब्ध हूँ। नर और नारी में यही अन्तर है ! नारी उस लता और नदी के सदृश है जो मरते दम तक भी पेड़ का साथ नहीं छोड़ती तथा समुद्र को भी अपना सब कुछ समर्पित कर देती है। इसके विपरीत नर समुद्र के समान है जो पवित्र और कुलीन नदी को जो रेत, लकड़ी और पानी बहाती हुई समुद्र के पास जाती है पर वह (समुद्र) उसे भी खारा पानी देने से नहीं अघाता !' और यह कहकर शीघ्र ही सीता अग्नि-परीक्षा के लिए लकड़ी के ढेर पर जाकर बैठ गयी।[20]

आसक्ति-त्याग – अग्नि-परीक्षा में सीता के खरी उतरने पर राम ने उनसे कहा- 'अकारण दुष्ट चुग़ल-खोरों के कहने में आकर मेरे द्वारा की गयी अवमानना से तुम्हें जो इतना दुःख सहना पड़ा इसके लिए मुझे एकबार क्षमा कर दो तथा मेरा कहा अपने मन में रखो।'[21]

अब तो सीता का शील आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति की ओर उन्मुख हो चुका था। उन्होंने कहा - 'हे राम ! आप व्यर्थ में विषाद न करें, मैं विषय-भोगों से ऊब चुकी हूँ।' यह कहते हुए सीता ने सिर के केश उखाड़कर राम के समक्ष डाल दिये। यह देख राम मूर्च्छित हो गये। सीता ने सर्वभूषण मुनि के पास जाकर दीक्षा धारण करली। मूर्च्छा दूर होने पर राम ने सीता के पास जाकर उनका अभिनन्दन किया और स्वयं की निन्दा की – 'धिक्कार है मुझे, जो लोगों के कहने से बुरा बर्ताव कर अकारण प्रिय पत्नी को वन में निर्वासित किया !'

इस तरह सम्पूर्ण ऐश्वर्य को ठुकरादेनेवाली, अत्यन्त सत्त्व से विभूषित सीता तप में लीन हो गयी। 62 वर्ष तक घोर तपकर 33 दिन की समाधि के बाद उसने स्वर्ग में प्रतीन्द्र का पद पाया। तत्पश्चात् राम भी सुव्रत मुनि से दीक्षा ग्रहणकर, अनेक व्रतों को धारणकर तथा घोर तपश्चरण कर कोटि शिला पर चढ़कर ध्यान में लीन हो गये।[22]

तब सीता का जीव जो प्रतीन्द्र हुआ था वह, राम कहाँ पर हैं - अवधिज्ञान से यह जानकर उनके पास आया। कोटिशिला पर ध्यान में लीन राम के पास आकर उस प्रतीन्द्र ने

उन्हें ध्यान से डिगाना चाहा। पर राघव मुनि ध्यान से नहीं डिगे। तब प्रतीन्द्र ने अपने द्वारा किये गये इस अविनय के लिए क्षमा माँगते हुए जरा और मरण का छेदन करनेवाले उपदेश देने की प्रार्थना की। तब महामुनि राम ने कहा- 'हे इन्द्र ! तुम राग को छोड़ो। जिन भगवान् ने जिस मोक्ष का प्रतिपादन किया है वह विरक्त को ही होता है। सरागी व्यक्ति का कर्म-बन्ध और भी पक्का होता है।' इस उपदेश को सुनकर पवित्र मन हो सीतेन्द्र ने मुनीन्द्र राम की वन्दना की।[23] फिर वहाँ से जाकर नरक में पड़े हुए लक्ष्मण, शम्बूक व रावण को भी बोधित कर सम्यग्दर्शन स्वीकार करवाया।[24]

इस तरह तन व मन दोनों की सुन्दरता से सुशोभित सीता के उत्कृष्ट चरित्र को अपभ्रंश भाषा के महाकवि स्वयंभू ने अपने 'पउमचरिउ' के माध्यम से बहुत ही सरल एवं रोचक रूप में प्रस्तुत किया है।

आज के इस विषम भौतिक युग में सीता का जीवन-चरित्र सभी पुरुषों व महिलाओं को श्रेष्ठ जीवन जीने की उत्तम राह दिखाता है।

---

1. 'पउमचरिउ', महाकवि स्वयंभू, 32.8, सम्पादक – डॉ. एस.सी.भायाणी, अनुवादक - डॉ देवेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1970
2. वही, 34.12
3. वही, 36.5
4. वही, 36.11
5. वही, 67.7
6. वही, 81.3
7. वही, 81.12,13
8. वही, 50.3
9. वही, 35.2
10. वही, 38.18,19
11. वही, 41.14,15
12. वही, 41.16
13. वही, 42.6,7,8

13. वही, 73.6-13
14. वही, 41.10-12
15. वही, 41.12,13
16. वही, 49.13,14
17. वही, 50.12
18. वही, 78.5
19. वही, 78.6
20. वही, 83.8,9
21. वही, 83.16
22. वही, 85.12, 89.13
23. वही, 89.12,13
24. वही, 89.12

14/55, शिप्रा पथ
मानसरोवर, जयपुर

जा जणहँ सुचित्तहरा

कंचण-मय साल सिरी-वरिया जल-पूरिय परिहाऽलंकरिया।
गोउर-पडिखलिया-यास-यरा सुरहर-धय-रुंधियणे सयरा।
जहिहं पुरउ मुएविणु पाणहओ
जहिं देक्खिवि लोयहं भूरि धणु वो मयर-सुराहँ विहित्त-मणु।
णिय-हियंयंतरे पवहंत-हिरि णिंक्षंति कुवेर वि अप्पसिरि।
जा सुहयरि जणहँ सुचित्तहरा चंदणवल्ली भुववंगहरा।
गिव्वण-पुरी व महा-विउला विवुहालंकिय हरिसिय-विउला।
तहिं वज्जसेणु णामेण णिओ हुवउ वज्जपाणि-सम भूरि सउ।
वज्जंगु सवंधव सोक्खयरो सुंदरु वज्जालंकरिय-करो।

घत्ता – सिरि उरयले जं मुह-सयदले सुअ देवी देक्खेविणु।
कुवियंगय, जियससियरवय, णावइ कित्ति वि लेविणु।। वड्ढमाणचरिउ 7.10 ।।

– जो नगरी के श्री-सम्पन्न कंचनमय परकोटों एवं जलपूरित परिखा से अलंकृत है। जहाँ के गोपुरों से नभचर भी प्रतिस्खलित हो जाते हैं; देवगृहों के समान (जहाँ के) गृहों की छज्जाएँ निशिचरों के लिए बाधक बन जाती हैं। जहाँ (के निवासी उस) पुरी को छोड़ने से प्राणहत जैसे हो जाते हैं। जहाँ के लोगों के धन की प्रचुरता देखकर कुबेर भी अपने मन में लज्जित होकर अपनी श्री की निन्दा किया करते हैं, जो नगरी मुखकरी है, जनों के चित्त को हरने वाली है। भुजंग को धारण करनेवाली चन्दनलता के समान है, महाविपुल गीर्वाणपुरी स्वर्ग के समान है, विबुधों से अलंकृत है, तथा जो विकलजनों को हर्षित करनेवाली है, उसी उज्जयिनी नगरी में वज्रसेन नामक एक राजा (राज्य करता) था जो वज्रपाणि– इन्द्र के समान अनेक विभूतियों वाला था। वह वज्रशरीरी अपने समस्त बन्धुओं को सुधारने वाला सुन्दर एवं वज्र-चिह्न से अलंकृत हाथों वाला था।

घत्ता – जिसके उरस्तल में लक्ष्मी और मुख में शतदल कमल-मुखी श्रुतदेवीरूप सौत को देखकर ही मानो उस (राजा वज्रसेन) की, चन्द्रमा की धवलिमा को भी जीत लेनेवाली कीर्ति रूपी महिला कुपित होकर (दशों दिशाओं में) ऐसी भागी कि फिर लौटी ही नहीं।

अनु. – डॉ. राजाराम जैन

करकंडचरिउ में सौन्दर्य-विधान

- डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'

■

अपभ्रंश के जैन कवि यों तो वीतरागी संन्यासी थे; फिर भी, अपनी काव्य-कृतियों के सौन्दर्य-विधान में उनकी कारयित्री-प्रतिभा ने कहीं कोई कसर नहीं छोड़ी है। वस्तु-सौन्दर्य, भाव-सौन्दर्य, अलंकार-सौन्दर्य, रूप-सौन्दर्य, प्रकृति-सौन्दर्य, अनुभूति-सौन्दर्य तथा लोक-सांस्कृतिक-सौन्दर्य आदि सभी के संघटन में उनकी नवनवोन्मेषशालिनी कला और कल्पना का सहज परिचय मिलता है। सचमुच, उनका सौन्दर्य-बोध अनूठा है। इसके लिए उन्हें जहाँ जो उपादान मिला उसी का उचित स्थान पर प्रयोग करके कथा-काव्यों को अद्वितीय बना दिया है। कांव्य सौन्दर्य की साधना ही तो है। सौन्दर्यानुभूति का आनन्द से अनिवार्य सम्बन्ध है। सौन्दर्य-सृजन और सौन्दर्य-भावन में सृष्टा और सहृदय की स्वाद-रुचि का सापेक्षिक महत्त्व है। निदान संन्यासी होने पर भी ये सौन्दर्य के प्रति उदासीन कैसे रह सकते थे ? और, सच बात तो यह है कि विकारहीन हृदय को ही सौन्दर्यानुभूति अथवा काव्य की रसानुभूति होती है। इनसे तो मानवीय अन्तःकरण प्रांजल और परिष्कृत होता है। तभी तो सहृदय में सत् का प्रादुर्भाव होने से वह काव्य-रस का आस्वादन करता है। जीवन में कठोर संयम के कारण ये कवि- मुनि और आचार्य, अवश्य स्वयं को जल में कमल-पत्रवत् ही बनाये रखते होंगे तथा सौन्दर्य एवं काव्य-रस से अभिभूत होकर आनन्दित रहते होंगे। इस दृष्टि से इनका काव्य-सृजन जहाँ इनकी सौन्दर्य-चेतना से अछूता नहीं रहा है, वहाँ अपने परा-आदर्श और उद्देश्य को भी पाने में समर्थ हुआ है। धार्मिक उपलब्धि ही इनका प्रधान प्रयोजन है। इसलिए कथा

लोक-जीवन में विस्तार पाकर अन्त में जैन-मुनि के दीक्षा-संस्कार में परिणत हो जाती है। और कवि को सौन्दर्य-विधान का पूरा-पूरा अवसर मिल जाता है, जिससे उसमें रसात्मकता का उद्रेक होता है।

यह सौन्दर्य दो प्रकार का होता है- वस्तुनिष्ठ (objective) या विषयगत और आत्मनिष्ठ (subjective) या विषयिगत। पश्चिम के एस. एलेक्जेण्डर ने इसे पूर्णत: वस्तु-निष्ठ कहा है[1] जबकि भारतीय मनीषा इसे आत्मनिष्ठ अधिक स्वीकार करती है। मूलत: सौन्दर्य परिवेश और परिस्थिति-सापेक्ष है- ''समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय''। कभी यह द्रष्टा की दृष्टि में होता है और वह कुरूपतम वस्तु को भी सुन्दरतम रूप प्रदान करता है और कभी वस्तु में ही इतना सौन्दर्य होता है कि द्रष्टा को भी अभिभूत मूल्यांकन हेतु विवश कर देती है। वस्तुनिष्ठ-सौन्दर्य प्रत्यक्ष-बोध से होता है और प्रत्यक्ष के लिए अन्त:करण और इन्द्रिय दोनों का वस्तु के साथ सन्निकर्ष या संयोग होना चाहिए। क्योंकि सौन्दर्य-बोध का सम्बन्ध अंशत: ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष से अवश्य है और सौन्दर्य-ग्रहण में अन्त:करण का योग अपेक्षित है। आत्मनिष्ठ सौन्दर्य को भावात्मक सौन्दर्य भी कह सकते हैं। यह हमारे भावात्मक संवेग (positive emotion) पर निर्भर करता है। इसमें उद्दीपन के प्रति स्वीकृति का भाव होता है अर्थात् आकर्षण रहता है। किन्तु, यह सभी में समान हो, आवश्यक नहीं। किसी में अभावात्मक-संवेग भी जाग सकता है, जिसमें उद्दीपन के प्रति अस्वीकृति का भाव अर्थात् विकर्षण रहता है।[2] इसलिए वस्तु के प्रत्यक्षीकरण पर जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है उससे जो आनन्द की प्राप्ति होती है वह प्रथम प्रकार का आनन्द है तथा वस्तु के समक्ष न रहने पर समाप्त हो सकता है। किन्तु, दूसरे प्रकार का आनन्द भी होता है जिसकी अनुभूति कल्पना के माध्यम से उस वस्तु के समक्ष न होने पर होती है। यह प्रथम की अपेक्षा स्थायी होता है और कभी दु:ख का कारण नहीं होता। कारण, यहाँ वस्तु का प्रत्यक्षीकरण ही नहीं होता। यही काल्पनिक या भावात्मक आनन्द है।

कल्पना कवि की सृजन-शक्ति है। कल्पना के विनियोग से नवान्वेषण का अवतरण होता है। कल्पना में अदृश्य को दृश्य बनाने की अद्भुत सामर्थ्य होती है। भावना के क्षेत्र में जो कल्पना है, चिन्तन के धरातल पर वही मौलिकता है। तभी तो कल्पनाशील व्यक्ति में मौलिक चिन्तन भी होता है। जिस युग में कल्पना और बुद्धि का समन्वय रहता है उसी में महान् कलाकार पैदा करने की क्षमता रहती है। 'कल्पना वह जादूभरी शक्ति है जो विरोधी अतिवादों (extremism) के बीच सन्तुलन उपस्थित करती है और प्राचीन तथा परिचित वस्तुओं में भी असाधारण भाव-बोध के कारण नवीनता का आधान करती है।'[3] रचनात्मक कल्पना सौन्दर्य-शास्त्र की मूलभूत है। इसी को संस्कृत आचार्यों ने 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' कहा है। इस दृष्टि से अपभ्रंश के जैन-मुनियों द्वारा रचित ये चरिउ-काव्य काव्यात्मक-सौन्दर्य में प्रभूत समृद्ध एवं उर्वर कल्पना-सृष्टि के परिचायक हैं।

मुनि कनकामर का करकंडचरिउ अपने सौन्दर्य-विधान में अनूठा है। इसकी कथा की बनावट और बुनावट लोक-भूमि पर अनेक धार्मिक एवं लौकिक कथा-रूढ़ियों के सहारे होती है जिससे उसमें लोक-जीवन की मधुरता और सौन्दर्य का भाव प्रखर होता चला है। प्रबन्ध के प्रारम्भ में ही कवि अपनी लघुता का विनम्रतापूर्वक परिचय कराता है -

वायरणु ण जाणमि जइ वि छंदु। सुअजलहि तरेव्वइँ जइ वि मंदु॥
जइ कह व ण परसइ ललियवाणि। जइ बुहयणलोयहो तणिय काणि॥
जइ कवियणेसेव हु मइँ ण कीय। जइ जडयणसंगइँ मलिण कीय॥[4]

– मैं न व्याकरण जानता हूँ और न छन्दशास्त्र; एवं शास्त्ररूपी समुद्र के पार पहुँचने में मन्द हूँ। मेरी वाणी में लालित्य का प्रसार किसी प्रकार भी होता नहीं और बुद्धिमान लोगों के सम्मुख मुझे लज्जा उत्पन्न होती है। मैंने कभी कविजनों की सेवा भी नहीं की प्रत्युत जड़ लोगों की संगति से मरी कीर्ति मलिन हुई है।

यह विनय-भाव अपभ्रंश के सभी जैन कवियों में दर्शनीय है तथा हिन्दी के परवर्ती कवि भी इस ओर आकृष्ट हुए हैं। चम्पानगरी का वर्णन करता हुआ वह कहता है –

उत्तुंगधवलकउसीसएहिं। णं सग्गु छिवइ बाहूसएहिं॥
कोसेयपडायउ घरि लुलंति। णं सेयसप्प णहि सलवलंति॥
जा पंचवण्णमणिकिरणदित्त। कुसुमंजलि णं मयणेण घित्त॥1.4॥

– वह अपने ऊँचे प्रासाद-शिखरों से ऐसी प्रतीत होती है मानो अपनी सैकड़ों बाहुओं द्वारा स्वर्ग को छू रही हो। घर-घर रेशम की पताकाएँ उड़ रही हैं, मानो आकाश में श्वेत सर्प सलबला रहे हों। वह पचरंगे मणियों की किरणों से देदीप्यमान हो रही है, मानो मदन ने अपनी कुसुमांजलि चढ़ाई हो।

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से चाक्षुष-बिम्ब साकार हो गया है। इसी प्रकार धाड़ीवाहन-नरेश कुसुमपुर में माली की कन्या को देखकर मुग्ध होता है तो बरबस उसके मुख से निकल पड़ता है कि मानो कामरूपी वृक्ष की एक फली हुई डाल ही हो- 'णं काम-विडविपरिफलियडाल'।[5] इसमें मानो सर्वांग सौन्दर्य की परिकल्पना साकार हो गई है। यह सौन्दर्य के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और चित्रण की ही कलात्मकता है।

रानी के नख-शिख-सौन्दर्य में तो कवि ने अपनी मौलिकता का सहज परिचय दिया है। कहीं विशेषोक्ति के सहारे चार चाँद लगाये हैं तो कहीं हेतूत्प्रेक्षा के द्वारा बिम्ब को सटीक बना दिया है। यद्यपि उपमान पुरातन ही हैं, परन्तु उनका प्रयोग एकदम नूतन। इसी से रूप-आकलन में एक आकर्षण आ गया है– 'नखों के रूप में मानो सूर्य-चन्द्र इसका अनुसरण करते हैं। कदली इसकी जंघाओं का अनुसरण करने लगी है। सुरगिरि ने अपने से भी कठिन मानकर इस ललित-देह रमणी के नितम्बों का अनुसरण किया है। उसके पीन और उन्नत स्तन

तो ऐसे हैं जैसे हाथी के कुम्भ ही हों। दन्तावलि मानो अनार के दानों का अनुसरण कर रही हो। नासिका की उन्नति को सहन न करके ही उसके अधर ने क्रोध की लालिमा धारण की है। उसके श्वेत और कृष्ण नयन-तारे ऐसे शोभा देते हैं मानो केतकी पत्र पर दो बड़े-बड़े भौंरे आ बैठे हों। कुटिल भौंहें ऐसी लगती हैं मानो मदन ने अपनी धनुर्यष्टि धारण की हो। भौंरों के समान काले केश सिर पर लहलहाते ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उसके मुख-चन्द्र के भय से अन्धकार वहाँ हिलकर काँप रहा हो' -

.....। णहरूवइँ रवि ससि सरिय णाइँ॥
सारउ सरीरु इच्छंतियाए। इह सारिउ जंघउ कयलियाए॥
करिराएँ मण्णेंवि करु ण चंगु। णं सेविउ मेरुहि आहि तुंगु॥
सुरगिरिणा गणियउ कढिण एह। अणुसरिय णियंवहो ललियदेह॥
तहि लिहियइं पीणुण्णयथणाइँ। णं कुंभिहि कुंभइँ णववणाइँ॥
दंतावलि सोहइ विप्फुरंति। णं दाडिमवीयहँ अणुहरंति॥
णासहे उण्णइ असहंतएण। रत्तत्तणु धरियउ अहरएण॥
सियकसण नयण सोहंति तार। णं केययदलि गय भमर तार॥
अइकुडिली भउहावलि विहाइ। धणुलट्ठि व मयणें धरिय णाइँ॥
सोहा महग्घु भालयलु भाइ। अद्धिंदु व लग्गउ सहइ णाइँ॥
अलिणीलकेस सिररुह घुलंति। मुहइंदुभयइँ णं तम मिलंति॥1.16॥

अन्तिम अर्द्धाली के उत्तरांश में 'मुहइंदुभयइँ णं तय मिलंति' के द्वारा तो सौन्दर्य का गत्यात्मक रूप जैसे चित्रित हो गया है।

श्मशान का वीभत्स-चित्र इसी सन्धि के 17 वें कड़वक में पूर्णत: रूपायित हो गया है (1.17.4-10)।

तीसरी सन्धि में युद्ध का यथार्थ बिम्ब बड़ा आकर्षक तथा गत्यात्मक-सौन्दर्य से पुष्ट है-

कुंताइँ भज्जंति। कुंजरइँ गज्जंति॥
रहसेण वग्गंति। करिदसणे लग्गंति॥
गत्ताइँ तुट्टंति। मुंडाइँ फुट्टंति॥
रुंडाइँ धावंति। अरिथाणु पावंति॥
अतांइँ गुप्पंति। रुहिरेण थिप्पंति॥
हड्डाइँ मोडंति। गीवाइँ तोडंति॥3.15॥

– भाले भग्न हो रहे हैं, कुञ्जर गरज रहे हैं, योद्धा वेग से बढ़ रहे हैं, हाथी के दाँतों

से लग (भिड़) रहे हैं। गात्र टूट रहे हैं, मुंड फूट रहे हैं। रुण्ड दौड़ रहे हैं और शत्रु स्थान को पा रहे हैं। आँतें निकल रही हैं, रुधिर से सन रही हैं। हड्डियाँ मुड़ रही हैं, ग्रीवाएँ टूट रही हैं।

करकंड और मदनावली के विवाह के समय तो लोकाचार, विवाह की रीतियाँ तथा लोक-संस्कृति ही ज्यों-की-त्यों चित्रित हो गई है; लोक-जीवन का यह मधुर संस्पर्श बड़ा मोहक तथा भव्य बन पड़ा है -

किय हट्टसोह घरि तोरणाइँ। संबद्धइँ तहो करकंकणाइँ॥
णाणाविह वज्जइँ वाइयाइँ। गीयाइँ रसालइँ गाइयाइँ॥
भावड्ढइँ णच्चइँ णच्चियाइँ। गयतुरयहँ थट्टइँ खंचियाइँ॥
उग्घाडिउ मुहवडु विहिं जणाहँ। णं मोहपडलु तग्गयमणाहँ॥
घयजलिअजलणभामरिउ सत्त। देवाविय भट्टहिं पढिवि मंत॥
करु बालहे अप्पिउ णववरेण। किय सवहणाइँ दाहिणकरेण॥3.8॥

यहाँ घर-द्वार की सजावट, तोरण लगना, हाथों में कँगन बाँधना, बाजे बजाना और गाना तथा नृत्य करना, मीठी गारियाँ गाना, वर-वधू का मुखड़ा उघाड़ना, अग्नि को साक्षी करके मंत्रोचारण के साथ भाँवरें देना, वर-कन्या का शपथ लेना आदि सभी लोकाचारों एवं रीतियों का निरूपण हुआ है। उसी समय माता पद्मावती का आकर आशीर्वाद देना तो जैसे सभी कुछ भारतीय रंग में रंजित हो गया है।

चिरु जीवहि णंदण पुहइणाह, कालिंदी सुरसरि जाव वाह।3.9.4।

अर्थात् हे नन्दन ! हे पृथ्वीनाथ ! चिरंजीवी हो, जब तक जमुना-गंगा की धारा बह रही है। इसी प्रकार चम्पाधिप और करकंड का जब भीषण युद्ध होता है तब समरांगण में ही पद्मावती आ पहुँचती है तथा पुत्र करकंड को रोकती हुई कहती है कि ये तेरे पिता हैं और फिर वह अपना पूर्व इतिहास दोहराती है। चम्पानरेश को विस्मय और विश्वास साथ-साथ होते हैं। उसी क्षण वह पद्मावती की ओर दृष्टि उठाकर देखता है, यह भाव-चित्र बड़ा अद्भुत है, एक ही साथ रति-भाव अपने उत्साह, आकर्षण, पवित्रता, आतुरी आदि संचारियों के साथ जैसे उमड़ पड़ता है -

सा दिट्ठिय चंपणरेसरेण, गंगाणर णं रयणायरेण।3.20.7।

अर्थात् उसे चम्पानरेश ने ऐसे देखा जैसे रत्नाकर गंगानदी को देखे। यहाँ 'रत्नाकर' तथा 'गंगा' के उपमानों का प्रयोग बड़ा सार्थक एवं भावपूरित है। यह सचमुच जैन मुनि के कवि होने का ही चमत्कार है। क्षणभर बाद ही धाड़ीवाहन संग्राम में जाकर पुत्र का आलिंगन करता है जैसे दामोदर ने प्रद्युम्नकुमार का आलिंगन किया।

जह संगरे जाइवि तेयणिहि पज्जुण्णु कुमरु दामोयरिण।3.21.10।

युद्ध के उपरान्त पिता-पुत्र का यह मिलन भी अत्यन्त स्नेहिल तथा भाव-शबल है।

ऐसे भाव-प्रवण बिम्बों की उद्भावना कवि ने अनेक स्थानों पर की है, परन्तु कहीं ऐंद्रिकता का संस्पर्श नहीं हो पाया है। भाव की पवित्रता और प्रांजलता यहाँ बरबस मन को मोह लेती है। समुद्र में युद्ध के समय जब मत्स्य करकंड का अपहरण कर लेता है, तब रतिवेगा विलाप करने लगती है -

हा वइरिय वइवस पावमलीमस किं कियउ।
मइँ आसि वरायउ रमणु परायउ किं हियउ॥
हा दइव परम्मुहु दुण्णय दुम्मुहु तुहुँ हुयउ।
हा सामि सलक्खण सुट्ठ वियक्खण कहिं गयउ॥
महो उवरि भडारा णरवरसारा करुण करि।
दुहजलहिं पडंती पलयहो जंती णाह धरि॥
हउँ णारि वराइय आवइँ आइय को सरउँ।
परिछंडिय तुम्हहिं जीवमि एवहिं कि मरउँ॥7.11.9-16॥

– हे नाथ, दुःख सागर में पड़ी हुई मैं एक दीन नारी हूँ। इस आपत्ति के समय मैं किसका स्मरण करूँ ? विरह-विह्वल नारी के ये शब्द भला किसे आहत नहीं करेंगे ? विरह-निरूपण की यही सार्थकता है कि सहृदय द्रवीभूत हो जाय और विरहिणी के प्रति सहानुभूति से भर जाय। परन्तु, विरह के पश्चात् जब विद्याधर-कन्या कनकप्रभा करकंड को रतिवेगा के पास ले जाती है, तब उसकी तन-मन की दशा का मनोवैज्ञानिक चित्र भावानुभूति के सौन्दर्य से जैसे दमक उठता है। खुशी से उसकी आँखों में आँसू छलक आते हैं। वह कृशांगी ऐसी चमक उठी जैसे कृष्णवर्ण सजल मेघ बिजली से चमक उठता है अथवा मयूरी सजल मेघ को देखकर नाच उठती हैं -

रइवेयइँ दिट्ठउ णियरमणु तहिं हरिसइँ बड्ढिउ अंसुजलु।
ता विज्जु चमक्किय कसणतणु सिहिकंतएँ णं जलहरु सजलु॥8.17.10॥

लोक-जीवन में दम्पती के मध्य का यह भाव-सौजन्य सचमुच दर्शनीय है। जैन मुनि कवि की यह लोकानुभूति उसके लोक-जीवन के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की परिचायक है। सचमुच, लोक और लोक-जीवन-संस्कृति की जितनी सटीक अनुभूति जिस कवि को होती है उसकी कविता उतनी ही भाव-प्रबल और भाव-सौन्दर्य से अभिमण्डित होती है। यहाँ 'सिहिकंतएँ णं जलहरु सजलु' कहकर 'खुशी से नाच उठना' मुहावरे को जैसे सार्थक कर दिया है। अनुभूति का यह सौन्दर्य हृदय को छू जाता है।

जब चम्पा के उपवन में शीलगुप्त मुनि का आगमन होता है यह सुनकर करकंड तो

प्रसन्नता से सात पग आगे बढ़ा ही; भेरी का नाद सुनकर महिलाएँ किस उत्साह से चल पड़ी उनकी भाव-दशा का यह सौन्दर्य, अर्ध-रात्रि में श्रीकृष्ण की बाँसुरी सुनकर दौड़ पड़नेवाली गोपांगनाओं से तुलनीय है।[5] भाव-शबलता का यह सौन्दर्य विलक्षण है। एक- साथ अनेक अनुकूल भावों के उद्रेक से खोई-खोई मन:दशा का यह चित्र अत्यन्त सटीक और मोहक है-

क वि माणिण चल्लिय ललियदेह। मुणिचरणसरोयहँ बद्धणेह ।।
क वि णेउरसद्दें रणझणंति। संचल्लिय मुणिगुण णं थुणंति।।
क वि रमणु ण जंतउ परिगणेइ। मुणिदंसणु हियवएँ सइँ मुणेइ।।
क वि अक्खयधूव भरेवि थालु। अइरहसइँ चल्लिय लेवि बालु।।
क वि परिमलु बहलु वहंति जाइ। विज्जाहरि णं महियलि विहाय।।9.2.3-7।।

अर्थात् कोई ललितदेह मानिनी मुनि के चरण-कमलों में स्नेह बाँधकर चल पड़ी। कोई नुपूर के शब्दों से झुनि-झुनि ध्वनि करती हुई चली, मानो मुनि के गुणों का स्तवन कर रही हो। कोई अपने साथ चलते हुए रमण की ओर ध्यान न देकर स्वयं हृदय से मुनि के दर्शन की अभिलाषा कर रही थी। कोई अक्षत व धूप से थाल भरकर, बालकों को ले बड़े वेग से चल पड़ी। कोई खूब सुगन्ध उड़ाती हुई जा रही थी, मानो विद्याधरी महीतल पर शोभित हो रही हो। कोई पूर्णचन्द्रमुखी हाथ में कमल लेकर चल पड़ी। इस प्रकार एक भव्य सामूहिक दृश्य का बिम्ब चाक्षुष प्रत्यक्ष हो गया है। इसी प्रकार तीसरी संधि में करकंड को देखने के लिए महिलाओं की मानसिक दशा तथा कायिक अनुभावों का बड़ा मनोहारी चित्रण किया है- 'कोई रमणी उत्कण्ठित होकर वेग से चल पड़ी, कोई विह्वल होकर द्वार पर ही खड़ी रह गई। कोई नए राजा के स्नेह से लुब्ध होकर दौड़ पड़ी। उस मुग्धा को अपने गलित हुए परिधान की भी सुध न रही। कोई अपने अधर पर खूब काजल देने लगी और नेत्रों में लाक्षारस करने लगी। कोई निर्ग्रन्थ वृत्ति का अनुसरण करने लगी, तो कोई अपने बालक को विपरीत कटि पर ले रही थी। कोई बाला नुपूर को करतल में पहन रही थी और माला को सिर छोड़कर कटितल पर धारण कर रही थी। कोई अनुराग में इतनी डूब गई कि मार्जार (बिल्ली) को अपना पुत्र समझकर उसे छोड़ती ही नहीं थी। कोई विह्वल हुई भूमि पर चलती-चलती मूर्च्छित हो रही थी' -

क वि रहसइँ तरलिय चलिय णारि। विहडप्फड संठिय का वि वारि।।
क वि धावइ णवणिवणेहलुद्ध। परिहाणु ण गलियउ गणइ मुद्ध।।
क वि कज्जलु बहलउ अहरे देइ। णयणुल्लएँ लक्खारसु करेइ।।
णिग्गंथवित्ति क वि अणुसरेइ। विवरीउ डिंभु क वि कडिहिं लेइ।।
क वि णेउरु करयलि करइ बाल। सिरु छंडिवि कडियले धरइ माल।।
णियणंदणु मण्णिवि क वि वराय। मज्जारु ण मेल्लइ साणुराय।।
क वि धावइ णवणिउ मणे धरंति। विहलंघल मोहइ धर सरंति।।3.2.2-8।।

सचमुच, चाक्षुष-बिम्बों की योजना में कवि कनकामर अतीव कुशल और सिद्धहस्त हैं। जिस कवि में बिम्ब-विधायिनी क्षमता जितनी अधिक होती है वह उतना ही सफल एवं श्रेष्ठ कवि होता है।

अलंकार-सौन्दर्य में उत्प्रेक्षा का उपयोग और प्रयोग यहाँ अनेक स्थलों पर किया गया है तथा विविध बिम्बों की उद्‌भावना की है। लगता है जैसे उत्प्रेक्षा कवि का अत्यन्त प्रिय अलंकार है। किन्तु जिस मानवीकरण अलंकार को आधुनिक-हिन्दी के छायावाद की देन कहा जाता है उसका कलात्मक-प्रयोग यहाँ दर्शनीय है। चौथी संधि में जब हाथी सरोवर में से कमल लेकर बामी की पूजा करके चला जाता है और करकंड उसके निकट आता है तभी राजा का स्वागत करता हुआ सरोवर कहता है - 'आइए, वह जल हस्तियों के कुम्भस्थलों-द्वारा कलश धारण किये था और तृष्णातुर जीवों को सुख उत्पन्न करता था। वह उच्च-दण्ड-कमलों द्वारा उन्नति वहन कर रहा था तथा उछलती मछलियों-द्वारा अपना उछलता मन प्रकट कर रहा था और विविध विहंगों के रूप में नाच रहा था। फेन-पिण्ड रूपी दाँतों को प्रकट करता हुआ वह हँस रहा था एवं अति निर्मल तथा प्रचुर गुणों सहित चल रहा था। भ्रमरावली की गुंजार-द्वारा वह गा रहा था और पवन से प्रेरित जल के द्वारा दौड़ रहा था' -

आवंतहो तहो अइदिहि जणंतु। खगरावइँ आवहु णं भणंतु॥
जलकुंभिकुंभकुभइँ धरंतु। तण्हाउरजीवहँ सुहु करंतु॥
उद्दंडणलिणिउण्णइ वहंतु। उच्छल्लियमीणहिं मणु कहंतु॥
डिंडीरपिंडरयणहिं हसंतु। अइणिम्मलपउरगुणेहिं जंतु॥
पच्छण्णउ वियसियपंकएहिं। णच्चंतउ विविहविहंगएहिं॥
गायंतउ भमरावलिरवेण। धावंतउ पवणाहयजलेण॥4.7.2-7॥

इस प्रकार निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि करकंडचरिउ का कवि सौन्दर्य का सच्चा चित्रकार है। साथ ही, सौन्दर्य-विधान में उसकी उर्वर कल्पना ने अनूठा योगदान दिया है। तभी तो अनेक भावात्मक-प्रसंगों की उद्‌भावना करके कथा को रससिक्त कर दिया है जहाँ उसने विविध बिम्बों की अवतरणा की है वहाँ वर्णन में भी उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे सुन्दर चित्र ही निर्मित कर दिये हैं। रूप-चित्रण और भाव-आकलन में उसकी कारयित्री-प्रतिभा ने सचमुच कमाल ही कर दिया है। उसकी लोकानुभूति और लोक-जीवन के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की क्षमता निराली है। इसी से वीतरागी संन्यासी होने पर भी उसने अपनी रसात्मकता का सहज परिचय दिया है और सौन्दर्य-विधान में कहीं अलंकारों के सहारे और कहीं कल्पना के द्वारा भव्य बिम्ब बनाये हैं जिनमें मधुरता है, सरसता है। सारांशत: उनका समूचा सौन्दर्य-विधान काव्य की रसानुभूति में सर्वत्र सफल है। उसके सौन्दर्य-बोध में अन्त:करण का योग है तथा उसके चित्रण में गहन आन्तरिकता एवं आध्यात्मिक-वृत्ति का संचरण हुआ है। उसमें

कलात्मकता और भव्यता है।

---

1. Beauty and other forms of value - By S. Alexander, London, 1933, P. 179
2. सौन्दर्य-शास्त्र के तत्त्व- डॉ. कुमार विमल, पृष्ठ 108
3. Principles of literary criticism- By I.A. Richards, 1955, P. 231
4. करकण्डचरिउ, सम्पादक – डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1.2, 5-7, पृष्ठ - 2
5. दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः।। 5 ।।
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पायन्त्यः शिशून पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदश्नन्त्योऽपास्य भोजनम्।।6।।
लिम्पन्त्यः प्रसृजन्त्योऽन्या अजंन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यम्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः।।
- श्रीमद्भागवत, दसम् स्कंध, अध्याय 29, श्लोक 5-6

49-बी, आलोक नगर
आगरा - 282 010

वित्थिण्ण पएसु मगहादेसु

एत्थंतरे सारु सुर-मण-हारु भरहखेत्ते विक्खाउ।
वित्थिण्ण पएसु मगहादेसु निवसइ देसहराउ।।

जहिं गुरुयर गिरिवर कंदरेसु जल-झरण-वाह-झुणि-सुंदरेसु।
कीलंति सुरासुर खेयराइँ णिय-णिय रमणिहिं सहुँ सायराइँ।
जहिं उट्ठंतिहिं अइ-णव-णवेहिं पुंडुच्छु-वाड-जंता रवेहिं।
बहिरिय-सुयरंधिहिं जणवएहिं सुम्मइँ न किंपि विंभिय गएहिं।
जहिं अहणिसि वहहिं तरंगिणीउ तरु-गलिय कुसुम रय-संगिणीउ।
विरयंतिउ जल-विब्भमहिं वित्तु खयरामर-मणुवहँ हरिय-चित्तु।
जहिं णंदणतरु-साहय ठियाहँ समहुर-सद्दहँ कलयंठियाहँ।
णिसुणइँ णिच्चलु ठिउपहियलोउ ण समीहइ को सुहयारि जोउ।
जहिं सरि-सरि सोहइ हंस पंति जिय-सारय-ससहर-जोन्ह-कंति।
परिभवण-समुब्भव-खेयखिण्ण णं सुवण-कित्ति महियले णिसण्ण।

घत्ता – तक्कर-मारीइ तहय अणीइ णिरु दीसंति ण जेत्थु।
सुरपुर पडिछंदु णर णिद्दंदु णयरु रायगिहु तेत्थु ।।40 ।। वड्ढमाणचरिउ 3.1

– यहीं भरतक्षेत्र में विख्यात, सारभूत, देवों के मन को हरण करनेवाला, विस्तीर्ण प्रदेश-वाला एवं देशों के राजा के समान मगध नामका देश स्थित है।

जहाँ गुरुतर पर्वतों के जल-स्रोतों के प्रवाह की ध्वनि से युक्त श्रेष्ठ एवं सुन्दर कन्दराओं में अपनी-अपनी रमणियों के साथ सुर-असुर एवं विद्याधर सादर क्रीड़ाएँ किया करते हैं, जहाँ पौंड़ा एवं इक्षु के बाड़ों में पीलन-यन्त्रों से उठते हुए अत्यन्त नये-नये शब्दों से श्रोत्र-रन्ध्र बहरे हो जाते हैं और विभ्रम को प्राप्त जनपदों से अन्य कुछ नहीं सुना जाता, जहाँ वृक्षों से गिरे हुए पुष्पों की रजकी संगवाली (अर्थात् परागमिश्रित) नदियाँ अहर्निश प्रवाहित रहती हैं, जो जल के विभ्रम से समृद्धि को प्रदान करती हैं तथा विद्याधरों, देवों एवं मनुष्यों के हृदयों का हरण करती हैं, जहाँ नन्दनवृक्ष की शाखाओं पर बैठे हुए कलकण्ठ वाले पक्षियों के मधुर कलरव पथिकजनों द्वारा निश्चल रूप से स्थित होकर सुने जाते हैं। (ठीक ही कहा गया है कि –) 'सुखकारी योग को कौन नहीं चाहता ?' जहाँ नदी-नदी अथवा तालाब-तालाब पर हंस-पंक्तियाँ सुशोभित रहती हैं, वे ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो शरद्कालीन चन्द्र-ऽयोत्स्ना की कान्ति ही हो, अथवा मानो परिभ्रमण की थकावट के कारण ही वहाँ बैठे हों अथवा मानो वहाँ महीतल पर बैठकर वे सुन्दर-वर्णों में वहाँ का कीर्ति-गान ही कर रहे हों।

घत्ता – जहाँ तस्कर, मारी (रोग) तथा (ईति, भीति आदि) अनीति भरा भी दिखाई नहीं देती। इन्द्रपुरी का प्रतिबिम्ब तथा मनुष्यों के लिए निद्वन्द्व राजगृह नाम का नगर है।

अनु. – डॉ. राजाराम जैन

करकंडचरिउ की प्रमुख काव्यरूढ़ि-मंगलाचरण

- विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया

■

अपभ्रंश प्राकृत की उत्तराधिकारिणी के रूप में समादृत भाषा है।[1] छठी शती से लेकर चौदहवीं शती तक अपभ्रंश के अनेक जैन मुनि और आचार्य कवि हुए हैं। इन्होंने त्रेसठ शलाका पुरुषों तथा उत्तरवर्ती यशस्वी राजा-महाराजाओं के चारुचरित्रों को लेकर अपभ्रंश वाङ्मय को अभिवृद्ध किया है।[2]

बारहवीं शती के अपभ्रंश के सशक्त कविर्मनीषी मुनि श्री कनकामर द्वारा प्रणीत 'करकंडचरिउ' बहुचर्चित चरित काव्य है।[3] करकंडचरिउ की कथा दश संधियों में विभक्त है। इस काव्यकृति में काव्यशास्त्रीय गुणों का पुष्कल प्रयोग हुआ है। कवि-समय और काव्यरूढ़ि के प्रयोग अपभ्रंश काव्य की अपनी विशेषता है। यहाँ अपभ्रंश के 'करकंडचरिउ' की प्रमुख काव्यरूढ़ि-'मंगलाचरण' पर संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूल अभिप्रेत है।

काव्यरूढ़ि अथवा कथानकरूढ़ि साहित्यिक प्रयोगों की परिपाटी के रूप में मानी जाती है। कथानकरूढ़ि को ही अभिप्राय कहा गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कथानकरूढ़ि नाम देकर अभिप्राय को सार्थक तथा सोद्देश्य बनाया है। वस्तुतः कथानक- रूढ़ियाँ कथानक के निर्माण में सहायक होती हैं। रचयिता इन्हीं के सहारे चलता हुआ कथा को गति प्रदान करता है।[4]

अपभ्रंश की प्रबन्धमूलक काव्याभिव्यक्ति में 'मंगलाचरण' एक सुपरिचित काव्यरूढ़ि है। मंगलाचरण एक यौगिक शब्द है – 'मंगल' और 'आचरण' से मिलकर इस शब्द का

गठन होता है। 'मंगल' मंगलाचरण का पूर्व और अपूर्व रूप है। 'मंगल' शब्द का अर्थ है- पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य। ये सभी शब्दार्थ 'मंगल' शब्द के पर्यायवाची हैं।[5]

पाप-विनाशक तथा पुण्य-प्रकाशक भावमंगल कहलाता है, नमस्कार आदि कहलाता है- द्रव्यमंगल। निर्विघ्नरूप से शास्त्र की अथवा अन्य लौकिक कार्यों की समाप्ति एवं उसके फल की प्राप्ति के लिए सब कार्यों के आदि में तथा शास्त्र के मध्य और अन्त में मंगल करने का आदेश है।[6]

यदि 'मंगल' शब्द को यौगिक के रूप में ग्रहण करें तो 'मं' तथा 'गल' शब्दों के योग से 'मंगल' शब्द का गठन होता है। मं शब्द का अर्थ है मिथ्यात्व-मल और गल शब्द से तात्पर्य है- गलाना, विनष्ट करना, घातना, दहन करना। अस्तु, जो मिथ्यात्व-मल को गलाता है वह है- 'मंगल'।[7] मंगल शब्द इस प्रकार से भी विग्रह किया जा सकता है - मंग और ल के सुयोग से मंगल शब्द का गठन होता है। मंग शब्द का अर्थ और अभिप्राय है- उल्लास-उत्साह, सुख और पुण्य; और ल शब्द का अर्थ है- लाना। इस प्रकार जो उत्साह-उल्लास, सुख और पुण्य लाता है, वस्तुतः वह है- 'मंगल'।[8]

काव्य के प्रारम्भ में मंगलाचरण प्रथा और प्रचलन अपभ्रंश के प्रारम्भ से ही परिलक्षित है। अपभ्रंश के अधिकांश रचयिता वस्तुतः जैन धर्मावलम्बी हैं और जैन संस्कृति में देव, शास्त्र और गुरु को जनवंद्य अंगीकार किया गया है। अपभ्रंश के महापुराण में कवि द्वारा सर्वप्रथम जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ की वन्दना करते हुए उनको सब देवों में श्रेष्ठ और कामदेव को जीतनेवाला बताया गया है।[9] ऋषभनाथ की वन्दना के पश्चात् कवि ने सन्मतिनाथ की वन्दना व्यक्त की है।[10] अन्त में कविवर सरस्वती की स्तुति गान करते हुए काव्य का प्रारम्भ करता है।[11] किन्तु जसहरचरिउ में कवि ने अरिहन्त देव की वन्दना की है। इसके पश्चात् वे चतुर्विंशति स्तुति को अभिव्यक्त करते हैं जिसमें सर्वप्रथम ऋषभनाथ को नमन कर शेष तेईस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। वन्दना के उपरान्त कवि काव्य का प्रारम्भ करते हैं। णायकुमारचरिउ में किसी तीर्थंकर देव की स्तुति न करके सरस्वती वन्दना के उपरान्त काव्य का प्रारम्भ किया गया है।[12]

अपभ्रंश के 'मंगलाचरण' प्रयोग की इसी परम्परा की अनुमोदना परवर्ती अपभ्रंश कविवर मुनि श्री कनकामर ने अपने करकंडचरिउ काव्य में भी की है। यहाँ 'करकंडचरिउ' काव्य में मंगलाचरण की स्थिति पर हम संक्षेप में चर्चा करेंगे।

ग्रन्थारम्भ में कविवर मुनिश्री कनकामर जिनेन्द्रदेव की वन्दना करते हुए स्पष्ट करते हैं कि मेरे पूजनीय आराध्य देव कामदेव का विनाश करनेवाले हैं। वे वस्तुतः शिवपुरवासी हैं। पापरूपी अन्धकार का हरण करनेवाले, सूर्य के समान तेज़स्वी हैं। उन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त की है और वे परमात्म-पद में लीन हैं -

मणमार विणासहो, सिवपुरिवासहो, पावतिमिरहर दिणयर हो।
परमप्पयलीणहो विलयविहीणहो, सरमि चरणु सिरिजिणवरहो ॥1.1॥

– मेरे आराध्य अनुपम मोक्ष-सुख के प्रदाता हैं। देवों, नागों तथा मनुष्यों द्वारा सेवित हे देव ! आप की सदा विजय की भावना है। आपने ज्ञानरूपी महोदधि का पार पा लिया है और भव्य जीवों को मोक्ष-मार्ग पर उन्मुख करके महान् उपकार किया है। हे परम पूजनीय ! आप कर्मरूपी भुजंग का दमन करने के लिए मंत्ररूप हैं। चतुर्गतियों में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों के उद्धारार्थ आप वास्तव में उत्तम शरण हैं तथा कलहरहित सज्जनों के दुःख-संघात के हरणकर्त्ता हैं -

जय अणुवमसिव-सुहकरण देव, देविंदफणिंदणरिंद सेव।
जय णाणमहोवहिकलियपार, पाराविय सिवपहे भवियसार॥
जय कम्मभुवंगमदमणमंत, मंताण बीज मणगहकयंत।
जय चउगइडरियजणेक्कसरण, रणरहियसुयणदुहणिवहहरण ॥1.1.3-6॥

– हे देवों के देव महादेव ! आप संयमरूपी सरोवर के राजहंस हैं तथा हंसों के समान उज्ज्वल बुद्धिमानों द्वारा प्रशंसित हैं। आप क्रोधरूपी अग्नि को शमन और शान्त करने के लिए जलरूप हैं। अज्ञानतम का निवारण करनेवाले परमवंद्य आप केवलज्ञान के धारक हैं। आपने मोक्षरूपी शाश्वत लक्ष्मी के हृदय में अपना निवास बनाया है। शताधिक इन्द्रों द्वारा सेवित हैं और सुख के धाम हैं। भव्य कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य-स्वरूपी हैं। आप साक्षात् आत्म-रस के अगाध अर्णव ही हैं -

जय संजमसरवररायहंस, हंसोवमबुहयणकयपसंस।
जय कोहहुआसणपउरवारि, वारियतम केवलणाणधारि॥
जय सासयसंपयहिययवास, वासवसयसेविय सुहणिवास।
जय भवियसरोरुहकमलबंधु, बंधुरगुण णियरसबहुलसिंधु ॥1.1.7-9॥

– हे निरंजन ! भव-भय भंजन, भुवन-महागृहमण्डन देव ! आपकी जय हो ! जो कोई आप के चरणों को नमस्कार करता है तथा मन में आपको स्मरण करता है उस मनुष्य को *मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है* -

जय देव णिरंजण भवभय भंजण, मंडण भुवण महाघरहो।
तव चरण णमंतहो मणे सुमंरतहो, होइ समिच्छिउ फलु णर हो ॥1.1.11॥

'करकंडचरिउ' काव्य के मंगलाचरण में कवि ने अपने आराध्य जिनेन्द्रदेव में निहित उत्तमोत्तम आत्मिक गुणों का चिन्तन और चिन्तवन किया है तथा अपभ्रंश की 'मंगलाचरण' नामक काव्यरूढ़ि में अपूर्व उपमानों और भक्त्यात्मक शब्दावलि का प्रयोग और उपयोग किया

है। मंगलाचरण के प्रयोग और प्रयोजन की प्रासंगिकता को प्रमाणित करते हुए कवि ने मंगलाचरण की महिमा का मूल्याङ्कन किया है।

अपभ्रंश के परवर्ती काव्य विशेषकर हिन्दी वाङ्मय में कविरूढ़ियों की भाँति 'मंगलाचरण' का प्रयोग अनिवार्य हो गया है।

---

1. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृष्ठ 36, सम्पादक - डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
2. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड-4, पृष्ठ 93-94, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, डी.लिट्.
3. करकंडचरिउ, प्रस्तावना, पृष्ठ 11-12, डॉ. हीरालाल जैन, एम.ए., डी.लिट्., भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 80, डॉ. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
5. तिलोयपण्णत्ति, अधिकार 1, गाथांक 8
6. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-3, पृष्ठ-259, क्षु. जिनेन्द्र वर्णी
7. धवला, खण्ड 1, गाथांक 10
8. धवला, खण्ड 1, गाथांक 33
9. महापुराण, महाकवि पुष्पदन्त, अनुवादक डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
10. वही,
11. वही,
12. जसहरचरिउ, पुष्पदन्त, पृष्ठ 4, अनुवादक डॉ. हीरालाल जैन, एम.ए. डी.लिट्., भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
13. णायकुमारचरिउ, पृष्ठ 2, पुष्पदन्त, अनुवादक डॉ. हीरालाल जैन, एम.ए. डी.लिट्., भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

मंगल कलश
394, सर्वोदय नगर
आगरा रोड, अलीगढ़ - 202 001

जसहरचरिउ में निरूपित इन्द्रिय संयम - एक विवेचन

- डॉ. आराधना जैन 'स्वतन्त्र'

■

यशोधर के जीवन-चरित्र को आधार बनाकर सोमदेव, वादिराज वासवसेन, सोमकीर्ति, हरिभद्र, क्षमाकल्याण आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर रचनाकारों ने अपने ढंग से प्राकृत और संस्कृत भाषा में काव्यसृजन किया है।[1] इनमें महाकवि पुष्पदन्तकृत 'जसहरचरिउ' सबसे अधिक प्रसिद्ध है।[2] यह महाकवि की तृतीय व अन्तिम कृति है। इसमें हिंसा पर अहिंसा की विजय का बोधक यशोधर का जीवन-चरित्र चार सन्धियों में प्रस्तुत है।

'जसहरचरिउ' की कथावस्तु का सारांश मात्र इतना ही है कि उज्जैन के राजा यशोधर और उनकी माता चन्द्रमती आटे का मुर्गा बनाकर देवी के समक्ष उसका बलिदान करते हैं। अन्त में विषाक्त भोजन के भक्षण से उनका मरण हो जाता है। वे अपने अगले जन्मों में क्रमशः मयूर[3] और कूकर[4], नकुल[5] व सर्प,[6] पाण्डुर रोहित मत्स्य[7] व सुंसुमार[8], फिर दोनों अज[9] अनन्तर अज[10] और महिष[11] अन्त में दोनों कुक्कुट[12] होते हैं और तिर्यंच गति के दुःख भोगते हैं। अनन्तर सुसंस्कारों के प्रभाव से उसी उज्जैन के राजकुल में राजा यशोमति के पुत्र अभयरुचि[13] और पुत्री अभयमती[14] (भाई-बहन) के रूप में जन्म लेते हैं। वे धार्मिक जीवन-पथ पर अग्रसर होते हुए क्षुल्लक[15] एवं क्षुल्लिका[16] दीक्षा अंगीकार कर लेते हैं। एक बार वे योधेय देश की राजधानी राजपुर में नरयुग्म की बलि के लक्ष्य से पकड़े जाकर[17] त्रिशूलधारिणी चण्डी देवी के मन्दिर में राजा मारिदत्त के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं। राजा उनके मुख पर *सामुद्रिक चिह्न देख उनका परिचय* पूछता है।[18] अपने गुरु-मुख से सुने अनुसार वे अपने पूर्व

जन्मों की समग्र कथा सुना देते हैं। उसे सुनकर राजा मारिदत्त पश्चात्ताप करते हैं। अन्त में राजा मारिदत्त भैरवानन्द, रानी उन क्षुल्लकों के गुरु सुदत्त के समीप जाकर दीक्षा धारणकर स्वर्ग जाते हैं।

प्रस्तुत कथा में राजा यशोधर मात्र इन्द्रिय-विषय-सुख की तीव्र कामना के कारण ही माता के कहने पर संकल्पपूर्वक आटे के मुर्गे की बलि देता है और कई भवों तक सुख के बदले दु:खों को भोगता है। दु:खों का कारण इच्छा है। इच्छाएँ जितनी अधिक होंगी आकुलता भी उतनी ही अधिक होगी। इच्छाएँ जितनी कम होगी उतना ही अधिक निराकुलता का अनुभव होगा। इच्छाओं के पूर्णत: अभाव होने पर पूर्ण निराकुलता का आविर्भाव होता है। निराकुलता ही यथार्थ सुख है और इसे प्राप्त करना प्राणी का लक्ष्य है। पण्डित दौलतराम जी ने छहढाला में कहा है -

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिय।
आकुलता शिव मांहि न तातै शिवमग लाग्यौ चहिए ।।3.1 ।।

इससे स्पष्ट है कि निराकुलता ही सुख है। निराकुलता राग-द्वेष-रहित होने/वीतरागता आने पर ही मिलती है। वीतरागता की प्राप्ति भी इच्छाओं के अभाव/विसर्जन से होती है। यही मुक्ति की साधना है। मानव मुक्ति की साधना के पथ पर चले इस दृष्टि से महाकवि ने 'जसहरचरिउ' में पहले इच्छाओं को दु:ख का कारण निरूपित कर उन्हें संयमित करने की प्रेरणा दी है जो क्रमश: विचारणीय है।

राजा यशोधर जब अपनी पत्नी का एक कुबड़े के साथ दुराचार देख लेता है तब वह विचार करता है -

जीवहु परु दुक्कियघरु विच्छिण्णउ वाहायरु ।
इंदियसुहु गरुयउ दुहु किह सेवइ पंडियणरु ।।2.10.16-17 ।।

– इन्द्रिय सुख महान् दु:ख है। जीव के लिए दुष्कर्मों का घर है तथा महान् बाधाएँ उत्पन्न करता है। पण्डित पुरुष इसमें कैसे पड़ जाता है ?

इच्छाएँ दु:ख का कारण है। इनसे निवृत्ति के दो उपाय हैं - इन्द्रिय-संयम और विषयों से वैराग्य। इन्द्रिय-संयम का अर्थ है इन्द्रियों को बलपूर्वक विषय-भोगों से दूर रखना। इसे इन्द्रिय-दमन और इन्द्रिय-निग्रह भी कहते हैं।

आधुनिक युग के मनोविश्लेषक फ्रायड ने इन्द्रिय-दमन की कटु आलोचना करते हुए इसे सभ्य समाज का अभिशाप सिद्ध किया है। उसके अनुसार शारीरिक और मानसिक रोगों, हत्या व आत्महत्याओं, पागलपन आदि बीमारियों के कारणों में इन्द्रिय-दमन प्रमुख है। इच्छाओं के दमन से व्यक्तित्व अन्तर्द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाता है। प्राकृतिक मन और नैतिक मन

में संघर्ष छिड़ जाता है। इस संघर्ष में इच्छाएँ दब तो जाती हैं पर वे नष्ट नहीं होतीं। वे अचेतन (गूढ) मन की गहराइयों में चली जाती हैं और ग्रन्थि बनकर बैठ जाती हैं। वे ग्रन्थियाँ चरित्र में विकृति उत्पन्नकर मनुष्य को रुग्ण, विक्षिप्त, छद्मी या भ्रष्ट बना देती हैं। इच्छाओं के दमन का परिणाम हर हालत में विनाशकारी है। इसलिये फ्रायड ने दमन का पूरी तरह से निषेध किया है और उन्मुक्त काम-भोग की सलाह दी है। किन्तु उसके द्वारा सुझाई गई यह दवा रोग से भी अधिक भयंकर है।[19]

'गीता' में भी कहा गया है कि जो मूढात्मा इन्द्रियों को बलपूर्वक विषय-भोग से वंचित रखता है वह मन ही मन विषयों का स्मरण करता रहता है। इस प्रकार वह मायाचारी बन जाता है -

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥3.6.॥

पण्डित टोडरमलजी ने भी क्षमता के अभाव में जो बलपूर्वक उपवास आदि किया जाता है उसके पाँच दुष्परिणाम बतलाये हैं -

1. क्षुधादि की पीड़ा असह्य होने पर आर्त्त ध्यान उत्पन्न होता है।
2. मनुष्य प्रकारान्तर से इच्छातृप्ति की चेष्टा करता है, जैसे- प्यास लगने पर पानी तो न पिये किन्तु शरीर पर जल की बूँदें छिड़के ।
3. पीड़ा को भुलाने के लिए जुआ आदि व्यसनों में चित्त लगाता है।
4. प्रतिज्ञा-च्युत हो जाता है।
5. उपवासादि की प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर भोजनादि में अति आसक्तिपूर्वक प्रवृत्त होता है।[20]

इन्द्रिय-दमन के हानिकारक प्रभाव होते हुए भी जैन आचार-संहिता में इन्द्रिय-संयम को आवश्यक बतलाया गया है। 'जसहरचरिउ' में कवि ने गृहस्थ-धर्म के परिपालन हेतु पाँचों इन्द्रियों को और मन को वश में करने हेतु निर्देशित किया है -

दुद्धरु होइ धम्मु अणगारउ, लइ परिपालहि तुहुँ सागारउ।
अणलियगिर जीवहँ दय किज्जइ, परधणु परकलत्तु वंचिज्जइ।
अणिसाभोयणु, पमियपरिग्गहु, मणि ण णिहिप्पइ लोहमहागहु।
महुमइरामिसु पंचुंबरिफलु, णउ चक्खिवज्जइ कयदुक्कियमलु।
किज्जइ दसदिसपच्चक्खाणु वि, भोउवभोय- भुत्तिसंखाणु वि।
मइरक्खणु अवरु वि सुदसवणु वि, पाउसकालि गमणवेरमणु वि।
जीवाहारु जीउ ण धरिज्जइ, णियपहरणु वि कासु वि दिज्जइ ॥3.30.8-14॥

– अनगार धर्म दुर्धर होता है अत: तू सागार/गृहस्थ धर्म को ग्रहण कर/पालन कर। वाणी मिथ्यात्व से रहित होनी चाहिए। जीवों पर दया करना चाहिये। परधन और परस्त्री से बचना चाहिए। रात्रि-भोजन नहीं करना चाहिए। धन-सम्पत्तिरूप परिग्रह भी सीमित होना चाहिए। मधु, मदिरा, मांस और पाँच उदुम्बर फल (वट, पीपल, पाकर, उमर और कठूमर) को भी नहीं चखना चाहिए। ये पापरूपी मैल उत्पन्न करते हैं। दसों दिशाओं में प्रत्याख्यान अर्थात् गमनागमन की सीमा कर लेना चाहिये। भोगों और उपभोगों का संख्यान अर्थात् निश्चित मात्रा और खाने की संख्या निर्धारित करनी चाहिए। मन को वश में रखना चाहिए। शास्त्र श्रवण करना चाहिए। वर्षाकाल में गमनागमन नहीं करना चाहिए। जीव ही जीव का आहार है, ऐसी धारणा रखकर जीव-हिंसा नहीं करना चाहिये। हिंसा के साधन अपने अस्त्र-शस्त्र अन्य को नहीं देना चाहिये।

कृति में प्रत्येक माह की अष्टमी-चतुर्दशी को उपवास करने हेतु भी निर्देशित किया है। उपवास की शक्ति न होने पर कांजी* का भोजन या नीरस भोजन करना चाहिये। तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करने, कषायों से बचने एवं जिनालय या एकान्त में समय बिताने को कहा है।[21] ये क्रियाएँ मनुष्य को उतने समय इन्द्रिय-विषयों से विरत करती हैं।

इन्द्रिय-दमन हानिकारक होते हुए भी आवश्यक क्यों है ? विषयों से वैराग्य होने पर इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं तो इन्द्रिय-संयम का औचित्य क्या है ? इच्छाओं के विसर्जन में इन्द्रिय-संयम की मनोवैज्ञानिक भूमिका क्या है ? यहाँ इस पर विचार किया जा रहा है।

सामान्य धारणा यह है कि इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति मनोगत विषय-वासना पर आश्रित है। मन में विषयों के प्रति आसक्ति से ही इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। अतएव मन के विषयों से विरक्त हो जाने पर इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं। अत: इन्द्रियों पर अलग से निग्रह आवश्यक नहीं है।[22]

पर यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छाएँ मात्र विषयासक्ति से ही नहीं वरन् इन्द्रिय-व्यसन या भोगाभ्यास से भी उत्पन्न होती हैं। यह एक स्नायुतंत्रीय प्रक्रिया है। मूल रूप से इच्छायें विषय-राग से ही उत्पन्न होती हैं किन्तु तृप्ति के लिए जब इन्द्रियाँ विषय-भोग करती हैं तब नाड़ी-तन्त्र में भोग का एक संस्कार पड़ता है। यह संस्कार जब बार-बार आवृत्त होता है तब वह व्यसन या लत में परिणत हो जाता है। परिणामस्वरूप इन्द्रियों में सम्बन्धित विषय के भोग की इच्छा अपनेआप उत्पन्न होने लगती है। जिस समय जिस वस्तु के भोग का अभ्यास इन्द्रियों को हो गया है उस समय उस वस्तु की प्राप्ति के लिए एन्द्रियक नाड़ी-तंत्र में उद्दीपन होता है। इससे शरीर और मन में व्याकुलता उत्पन्न होती है जिससे मुक्त होने के लिए उस वस्तु का भोग आवश्यक हो जाता है। इस उद्दीपन को 'तलब' कहते हैं। उदाहरणार्थ- जिन्हें बीड़ी, सिगरेट,

* माँड, दही या फटे हुए दूध का पानी

तम्बाकू, चाय, शराब आदि की लत पड़ जाती है उनके एन्द्रियक तन्तुओं में निर्धारित समय पर इन द्रव्यों के भोग की उत्तेजना पैदा होती है और तब उन्हें बरबस इनका सेवन करना पड़ता है। इसी प्रकार जिन्हें अधिक भोजन करने की या अधिक काम-सेवन करने की आदत पड़ जाती है उनकी इन्द्रियाँ उतने ही भोजन और उतने ही काम-सेवन की माँग करने लगती हैं। इसे मनोविज्ञान की भाषा में प्रतिबद्धीकरण कहते हैं।[23]

भोगाभ्यास हो जाने पर इन्द्रियों का अपना एक अलग विधान हो जाता है। पहले वे मन के अनुसार चलती हैं। बाद में मन को अपने अनुसार चलाने लगती हैं और उनकी चालक शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि न चाहते हुए भी मन को बलपूर्वक अपनी ओर खींच लेती है। यह तो सर्वविदित है कि मन ही हमारे समस्त कार्यों का स्रोत है। मन ही इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करता है पर इस तथ्य की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान जाता है कि इन्द्रियाँ भी मन को बलात् अपने विषयों की ओर आकृष्ट कर लेती हैं।[24] 'गीता' में यह तथ्य स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है -

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥2.60॥

– हे अर्जुन ! समझदार मनुष्य भी इन इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करे तो भी प्रचण्ड इन्द्रियाँ मन को जर्बदस्ती विषयों की ओर खींच ले जाती हैं।

यही कारण है कि कई बार लोग बीड़ी, सिगरेट, शराब की आदि हानियों से सचेत होकर जब उन्हें छोड़ने का बार-बार प्रयत्न करते हैं पर छोड़ नहीं पाते। इसलिए जहाँ यह सत्य है कि इन्द्रियों के विषय-विरक्त हो जाने पर भी मन का विषय-निवृत्त होना निश्चित नहीं है, वहाँ यह भी सत्य है कि मन के विषय-विरक्त हो जाने पर भी इन्द्रियों का विषय-निवृत्त होना अनिवार्य नहीं है।

इच्छाओं के दो स्रोत हैं- विषय-राग तथा इन्द्रिय-व्यसन। इनमें विषय-राग तो ज्ञान से नष्ट हो जाता है पर इन्द्रिय-व्यसन की निवृत्ति के लिए पहले पदार्थों के हानिकारक स्वरूप की समझ हो अनन्तर ऐन्द्रियक नाड़ीतन्त्र में होनेवाले उद्दीपन अर्थात् 'तलब' को पूर्ण न करने का प्रयास किया जाये। ऐसा करने से नाड़ी-तन्त्र में विकसित 'तलब' के संस्कार धीरे-धीरे शिथिल होकर नष्ट हो सकेंगे। इसके लिए विकल्प भी अपनाये जा सकते हैं। जैसे- इन्द्रिय-व्यसन की इच्छा होने पर उसे सन्तुष्ट न करते हुए अहानिकर पदार्थ का सेवन किया जाये अथवा मन को अन्य किसी रुचिकर कार्य में लगाया जाय। यह कार्य आरम्भ में कष्टदायी प्रतीत होता है पर इन्द्रियों को विषयजन्य उत्तेजना की सामग्री न मिलने से वह क्षीण होती जाती हैं। नाड़ीतन्त्र की विकृत अवस्था में बदलाव आता है। परिणामस्वरूप यह इन्द्रिय-व्यसन एक दिन पूर्णरूपेण समाप्त हो सकता है। इसी प्रकार समस्त इन्द्रिय-विषयों के

अनावश्यक भोग की आदतों से निवृत्ति पाकर इन्द्रियों को अनावश्यक विषय-रागों से बचाया जा सकता है। यही इन्द्रिय-संयम या इन्द्रिय-दमन है। अनावश्यक इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रिय-संयम अपरिहार्य है।[25]

इन्द्रिय-संयम के द्वारा शरीर में उत्पन्न होनेवाली अस्वाभाविक एवं अनावश्यक इच्छाओं को नियन्त्रित किया जाता है। क्योंकि अनावश्यक इच्छाओं की उत्पत्ति से आर्त्तभाव होता है और उनका पोषण शारीरिक व्याधियों का जन्मदाता है। अतएव नियन्त्रित इच्छाएँ शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य एवं शान्ति प्रदान करती है। कर्म सिद्धान्त के अनुसार मिथ्यात्व, कषाय, असंयम तथा इन्द्रियविषयों के सेवन से जीवों के कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है इसे सम्यक जीवों के ऊपर दयाभाव तथा इन्द्रिय-अनासक्ति के द्वारा रोकना चाहिए–

मिच्छत्तकसायासंजमेण, आसवइ कम्मु करणुब्भवेण।
सम्मत्तिं जीवदयागमेण, इंदियरइसंगविणिग्गमेण ॥4.15.3-4 ॥

कृति में शारीरिक इच्छाओं/उत्तेजनाओं को क्रमशः नियन्त्रित करने का भी निर्देश है।[26] शक्ति के अनुसार जितने अंश में रागभाव के विगलित होने पर चारित्रिक क्षमता उत्पन्न होती है, उतने अंश में इन्द्रिय-विषयक उत्तेजनाओं को नियन्त्रित करना चाहिये। क्रमशः इच्छाओं को विसर्जित करने से नाड़ीतन्त्रीय स्रोत निष्क्रिय हो जाता है और चारित्रिक विकृतियों के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। अतः इच्छाओं के विसर्जन में इन्द्रिय-संयम उतना ही मनोवैज्ञानिक साधन है जितना विषयों से वैराग्य।

'जसहरचरिउ' में कथा व उपदेश के माध्यम से निरूपित इन्द्रिय-संयम की और उन्मुक्त व अनावश्यक भोगों से बचने की प्रेरणा दी गई है। इसका लाइलाज बीमारियों से बचने, शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। इससे भोगोपभोग-सामग्री के संचय की वृत्ति भी नियन्त्रित होती है तथा अन्य को भी उसकी प्राप्ति के सहज अवसर मिल जाते हैं। इन्द्रिय-सयंम, अहिंसादि वृत्तियाँ मानव को स्वावलम्बी बनाती हैं। यह आत्मोत्थान की यात्रा के पथिक के लिए श्रेष्ठतम सम्बल है।

---

1. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ 314
2. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष 1993 पृष्ठ - 213
3. जसहरचरिउ, 2.27.15, महाकवि पुष्पदन्त, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, सन् 1972

4. वही, 2.31.1
5. वही, 2.36.6
6. वही, 2.36.11
7. वही, 3.4.13
8. वही, 3.2.8
9. वही, 3.6.9-11
10. वही, 3.7.8.1
11. वही, 3.11.15-16
12. वही, 3.13.12-17
13. वही, 3, 33, 34
14. वही, 3.33.34
15. वही, 4.28.2
16. वही, 4.28.22-23
17. वही, 1.14.11-12
18. वही, 1.16.17-18
19. जिनभाषित, मासिक पत्रिका, सम्पादक प्रो. रतनचन्द्र जैन, सर्वोदय जैन विद्यापीठ, 1/205 प्रोफेसर कॉलोनी, आगरा, मई 2001, पृष्ठ 16
20. मोक्षमार्ग- प्रकाशक, पण्डित टोडरमल, 7/238-240
21. वही, 3.30.1-5, 3.31.1
22. जिनभाषित, मई 2001, पृष्ठ 17
23. वही,
24. वही,
25. वही, पृष्ठ 17-18
26. जसहरचरिउ, 4.15.11-12

भगवान महावीर मार्ग
गंजबासौदा (म.प्र.)

वरवत्थु रयणधारण णिहाणु

णिवसइ असेस-णयरहँ पहाणु वर-वत्थु-रयण-धारण-णिहाणु।
फलिह-सिलायल-पविरइय-सालु सिंगग्ग-णिहय-णहयलु विसालु।
गोउरु तोरण-पडिखलिय-तारु आवण संदरिसिय-कणय तारु।
ससि-सूरु-कंति-मणि-गण-पहालु मरु-धुय-धयवड-चल-वाहु-डालु।
णील-मणि-किरण-संजणिय-मेहु रयणमय-णिलय-जिय-तियसगेहु।
सुर-हर-सिहरुच्चाइय-पयंगु रायहर-दारि गज्जिय-मयंगु।
णिच्चुच्छव-हरिसिय-सुयण-वग्गु तूरारव-वहिरिय-पवणमग्गु।
परिपालिय-जंगम-जीवरासि तियरण-परिसुद्धिप्र सुद्ध-भासि।
परदव्व-हरण-संकुइय-हत्थु मुणिदाण-जिणुद्धव-विहि-समत्थु।
परणारि-णिरिक्खण-कयणिवित्ति मुणि-भणिय-संख-विरइय-पवित्ति।
परिहरिय-माण-मय-माय-गव्वु वंदियण-विंद-पविइण्ण-दव्वु।
सीलाहरणालंकरिय-भव्वु णिरुवद्दउ जहि जणु वसइ सव्वु।

घत्ता – तहिं भुंजइ रज्जु, चिंतिय कज्जु वइरि-हरिण-गण-वाहु।
णामेण पसिद्धु लच्छि-समिद्ध विस्सभूइ णरणाहु ॥41॥ वड्ढमाणचरिउ 3.2

- वह राजगढ नगर समस्त नगरों में प्रधान तथा उत्तमोत्तम वस्तुरूपी रत्नों के धारण (संग्रह) करनेवाला निधान है। जहाँ स्फटिक-शिलाओं द्वारा बनाया गया विशाला परकोटा है, जिसके शिखराग्रों से आकाश रगड़ खाता रहता है। गोपुर के तोरणों से जिस (परकोट) की ऊँचाई प्रतिस्खलित है, जहाँ के बाजारों में सोने के सुन्दर-सुन्दर आभूषण ही दिखाई देते हैं, जो चन्द्रकान्त एवं सूर्यकान्त मणियों की प्रभा से दीप्त है, जो वायु द्वारा फहराती हुई ध्वजा-पताका रूपी चंचल बाहु-लताओं से युक्त है, जहाँ मेघ ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो नीलकान्त मणियों से बने हुए हों। जहाँ के रत्नमय निलयों ने स्वर्ग-विमानों को भी जीत लिया था, जहाँ देवगृह के समान प्रतीत होनेवाले भवनों के शिखरों से सूर्य को भी ऊँचा उठा दिया गया है। राजगृह के (राजभवन) के द्वार पर सिंह गरजता रहता है। नित्य होनेवाले उत्सवों से सज्जन वर्ग हर्षित रहता है, जहाँ तूर के शब्दों से आकाश बहरा हो जाता है। जहाँ जंगम जीवराशि भी परिपालित रहती है (वहाँ त्रसजीवराशि की परिपालना का तो कहना ही क्या) जहाँ त्रिकरणों अर्थात् मन, वचन एवं काय की शुद्धि कही जाती है, जहाँ परद्रव्य-हरण में लोगों के हाथ संकुचित तथा मुनिों के लिए दान एवं जिनोत्सव की विधियों से दान देने में समर्थ हैं। जहाँ के लोगों की वृत्ति परनारी के निरीक्षण करने में निवृत्ति रूप तथा मुनि-कथित शिक्षा के पालन करने में प्रवृत्तिरूप है। क्रोध, मद, माया एवं गर्व से दूर रहते हैं। बन्दीजनों को द्रव्य दिया करते हैं। भव्यजन शीलरूपी आभरणों से अलंकृत हैं तथा जहाँ सभी जन बिना किसी उपद्रव के निवास करते हैं –

घत्ता - उस राजगृही में कर्तव्य-कार्यों की चिन्ता करनेवाला, बैरियों को हराने में समर्थ बाहुओं वाला एवं लक्ष्मी से समृद्ध 'विश्वभूति' इन नाम से प्रसिद्ध एक नरनाथ राज्यभोग करता था।

अनु. – डॉ. राजाराम जैन

जैन फागु की लोकपरकता

- डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी

■

साधारणतः 'फल्गु' से फागु की व्युत्पत्ति मानी जाती है। 'अमरकोष' (अमरसिंह) के टीकाकार क्षीर स्वामी ने फल्गु की व्याख्या करते हुए लिखा है -

'वसन्त्यस्मिन् सुखं वस्तै भुवं वसन्तः। फल्गु देश्याम्।' (कालवर्ग, 3.18)

फल्गु का 'वसन्त' के साथ अभिन्न सम्बन्ध है। डॉ. गोविन्द रजनीश ने 'फल्गु' शब्द के तीन अर्थ बताये हैं- 1. बसन्त, 2. श्वेत नक्षत्र और 3. आरक्तवर्ण- इन तीनों का अर्थ वे वसन्त से सन्दर्भित बताते हैं। परन्तु ज्ञानमण्डल, वाराणसी से प्रकाशित 'पौराणिक कोश' के अनुसार 'फल्गु' (बिहार की एक पवित्र नदी जिसके तट पर 'गया' तीर्थ बना है। पितृपक्ष में यहाँ मेला लगता है) का अर्थ अलग है, पर इससे 'फल्गु' के साहित्यिक निहितार्थ की क्षति नहीं होती। कान्तिलाल व्यास ने 'वसन्त विलास' की परिचयात्मक भूमिका में माना था-

"The Phagu is so called because it mainly deals with the joys and pleasures of spring time which is at its best in the month of Phalguna."[1]

यह तो वसन्त के साथ निश्चित और अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, यह अपभ्रंश के अधिसंख्य 'फागु' ग्रन्थों को सामने रखकर निश्चित किया जा सकता है; परन्तु मेरा अभीष्ट यह नहीं है। जैन फागु ग्रन्थों पर फागु-विरहित होने का और धार्मिक संकीर्णता का आरोप लगाया जाता है। प्रतिबद्ध दृष्टि से देखने पर यह आरोप अनुचित मालूम नहीं पड़ता किन्तु

धर्म का प्रचार-प्रसार अगर प्रतिबद्ध दृष्टि से न किया जाय तो वहाँ सैद्धान्तिक क्षरण भी होने लगता है; क्योंकि जब हम किसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर कोई कार्य करते हैं तो वहाँ पर सन्दर्भों का निहितार्थ स्पष्ट होता है किन्तु धर्म अगर सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत कोई कृत्य या प्रक्रिया है तो उससे लोक को प्रभावित होना है और यह प्रभाव उभयात्मक है, कृति और कृतिकार पर भी लोक का प्रभाव देखा जा सकता है। डॉ. गोविन्द रजनीश का मानना है कि - ''जैन आख्यात्मक फागु, जैन आख्यानों को उपजीव्य बनाकर लिखे गये हैं। इस परम्परा में दो ही आख्यानों की गणना की जा सकती है -

1. नेमिनाथ-राजीमती और

2. स्थूलिभद्र-कोशा, ये दोनों ही लोक-विश्रुत आख्यान हैं[2]।''

डॉ. रामसिंह तोमर ने 'प्राकृत अपभ्रंश साहित्य' (पृष्ठ 224) में यह जानकारी दी है कि- ''रास, चर्चरी और 'फागु' तीनों ही नामों से अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती में रचनाएँ मिलती हैं ------- फागु आदि का काव्य-रस से हीन रूप चलता रहा। काव्य में भी इस परम्परा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर कवि लोग राजाओं के चरितों की रचना करने लगे, यह चारण काव्य का दूसरा रूप है।''

काव्य-रस से हीनरूप चारण काव्य का दूसरा रूप भी हो सकता है क्या ? मेरी समझ में नहीं आता कि इस तरह की मान्यताओं से विद्वान् किस्म के चिन्तक आखिर कहना क्या चाहते हैं ? जैन फागु ग्रन्थों पर धार्मिकता का आरोप लग सकता है परन्तु काव्य-रस से हीन कोई साहित्यिक काव्य-परम्परा (चाहे वह धार्मिक ही क्यों न हो अगर समाज में रची जा रही है तो) नहीं चल सकती। जैन फागु-वर्णनों में धार्मिकता के साथ ऐहिकता का इतना अधिक मिश्रण है कि कभी-कभी तो पाठक को भी भ्रम होने लगता है कि कहीं शृंगार वर्णन तो नहीं हो रहा है -

ऋतु वसन्त नव यौवनि यौवनि तरुणी वेश।
पापी विरह संतापइ तापइ पिउ परदेश।।
वनसपति सवि मोहरी रे, पसरी मयणनी आण।
विरही नई कहंउ कहंउ करइ कोयल मूंकइ बाण।।

– अर्थात् वसन्त नये रूप में है, युवती भी तरुणी है। प्रियतम परदेश गया हुआ है। वसन्त के आगमन से कामदेव की शान बढ़-सी गयी है। विरहियों के लिए कोयल 'कहाँ है-कहाँ है' कहकर बाण छोड़ रही है (प्रियतम के लिए)।

ते साजन किम बीसरइ जस गुण वसिया चिंति।
ऊंध मांहि जु वीसरइ सुहुंणा मांहि दीसंति।।[3]

– प्रियतम जब हृदय में बसा हुआ है तो भला किस तरह से विस्मृत किया जा

सकता है! अर्धसुप्तावस्था में तो वह विस्मृत हो सकता है पर नींद के आते ही स्वप्न में दिखायी दे जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से फागु काव्य में विरह का भाव-सम्प्रसरण किसी भी तरह से हीन नहीं माना जायगा। समधुर कृत 'नेमिनाथ फागु' में कवि ने एक धर्म-प्रचारक के रूप में जब स्वयं को प्रस्तुत किया है तो नेमिनाथ को मुक्ति का दाता कहा है किन्तु जहाँ पर ऐहिक सन्दर्भ उसके सामने आये हैं और एक पति के रूप में नेमिनाथ स्वयं को प्रस्तुत करने में असमर्थ (जहाँ पर) होते है वहाँ कवि उन्हें नपुंसक तक कहने में संकोच नहीं करता -

अरे ऊरहि ऊरहि आहणइ, ते केमे ताणति।
अरे काहउं नेमि नपुंसको, एक रमणि न करंति॥

इसी तरह समरकृत 'नेमिनाथ फागु' में भी विरह की करुण दशाओं का जो मार्मिक चित्रण मिलता है वह प्रकृति-प्रेरित है। विरहिणी की मानसिक दशा और प्रकृति का असहयोग जिस तरह से वर्णित किया गया है वह पारम्परिक ही है, वह कोयल हो या चन्दा दोनों राजीमती की मानसिक दशा को नहीं समझते –

कोयल करई टहूकडा बइठी अंबला डालि।
विरह संभारिय पापिणी, जाजई यादववालि॥

X X X

चन्दा कहि न संदेसडउ, वीनतडी अवधारि।
शुद्धि पूच्छउं यादव तणी, तू जाईसि गिरनारि॥

जैन धार्मिकता की आड़ में साहित्यिक आलोचना ने जो निष्कर्ष अपभ्रंश की समृद्ध परम्परा को नकारने में लगाया उसकी प्रतिक्रिया में दूसरे वर्ग ने अति उत्साह दिखाया और मध्यकाल की समृद्ध परम्परा पर (धार्मिक परम्परा जो सामाजिक पहले थी) प्रश्नवाचक लगाने की बात कही; वस्तुतः होना यह चाहिए कि किसी परम्परा या धार्मिक साहित्य से उसका सामाजिक सत्वांश ग्रहण किया जाय उसमें कोई पूर्वाग्रह न रहे। अधिकतर जैन फागु काव्यों की विषय-वस्तु निर्धारित है। मात्र दो उपाख्यानों को आधार बनाकर दृष्टि की कितनी भिन्नता दिखायी जा सकती है! पर वहाँ भी जहाँ तक लोक में कवि जा सका है वहाँ वर्णन सजीव और आकर्षक हो उठा है, 'पउमचरिउ' फागु काव्य तो नहीं है पर वहाँ भी जिस तरह से बसन्त का वर्णन हुआ है वह देखते बनता है -

सुप्पहाय- दहि- अंस- रवण्णउ।
कोयल-कमल-किरण-दल-छण्णउ॥
जयहरें पइसारिउ पइसन्तें।

णावइ मङ्गल-कलणु वसन्तें ॥
फग्गुण-खलहों दूउ णीसारिउ।
जेण विरहि-जणु कह व ण मारिउ ॥4.1.1-3 ॥

– अर्थात् लाल सूर्य-पिण्ड ऐसा लग रहा था मानो प्रवेश करते वसन्त ने संसार में कोमल किरणों के दल से ढके हुए प्रभातरूपी मंगल कलश (दधिलेपित) की स्थापना की हो। वसन्त ने फाल्गुन के दुष्ट दूत पाले को भगा दिया।

पङ्कय-वयणउ कुवलय-णयणउ केयइ-केसर-सिर-सेहरु।
पल्लव करयलु कुसुम-णहुज्जलु पइसरइ वसन्त-णरेसरु ॥14.1.9-10 ॥

– धीरे-धीरे वसन्त राजा का प्रवेश हुआ। कमल उसका मुख था, कुमुद-नेत्र, केतकी, पराग, सिरशेखर-सिरमुकुट, पल्लव-करतल और फूल उसके उज्ज्वल नख थे।

फागु काव्य में वसन्त/कामदेव का आना बहुत ही सहज ढंग से होता है, और जन-श्रुतियों पर अगर ध्यान दिया जाय तो फागुन/दोलोत्सव/वसन्तोत्सव/मदनोत्सव/होलिकोत्सव से जन-साधारण का लगाव देखा जा सकता है; और सम्भवत: यही कारण है कि फागु काव्य में कहीं-कहीं 'अति' की झलक भी दिखायी देने लगती है -

कठिन सुपीन पयोधर, मनोहर अति उतंग।
चंपनवनी चन्द्राननी माननी सोह सुरंग॥
हरणी हरावी निज नयणहि वयण्डि साह सुरंग।
दंत सुपंती दीपंती सोहंती सिरवेणी बंध॥

- वीर विलास फागु

कहीं-कहीं पर फागु काव्यों में (जैनेतर) परम्परा का प्राचीनतम रूप देखने को भी मिल सकता है। उदाहरण के लिए 'वसन्त विलास' के रचयिता के बारे में विवाद है। कृति के जैन परम्परा में होने में भी विवाद है (कुछ मानते हैं, कुछ नहीं मानते) पर इससे कृति के स्थायी महत्त्व में किसी भी प्रकार की कमी होगी ऐसी नहीं कहा जा सकता -

देसु कपूर ची वासि रे वासि वली सर पडउ।
सोवन चांच निरूपम रूपम पांषुड़ी बेउ॥

– 'हे वायस, तुम्हें मैं वायसिका कपूर से वासित कर दूँगी। यदि तू प्रिय के आगमन का स्वर सुना देगा तो सोने से चोंच मढ़ा दूँगी। तेरी दोनों पाँखें चाँदी से मढ़ा दूँगी।' कहना न होगा कि यह विद्यापति से होता हुआ आज भी लोकभाषाओं की परम्परा में अपभ्रंश की समृद्ध परम्परा से ही सुरक्षित है। कभी-कभी अत्यन्त सुन्दर उपमा के जरिये फागु काव्यों में चित्रात्मक अभिव्यक्ति मिलती है कि लगता नहीं कि यह धार्मिक काव्य है -

तउ अवतरिउ रितुपति तपति सुमन्मथ पूरि।
जिमि नारीय निरीक्षिण दक्षिण मेंल्हइ सूरि।। (नेमिनाथ फागु)

अर्थात् सूर्य ने दक्षिण-दिशा का परित्याग कर दिया है जिस तरह से किसी आश्रयहीन नारी का परित्याग कर दिया जाता है।

प्राचीन फागु संग्रह में डॉ. भोगीलाल सॉडेसरा का मानना है कि वसन्त ऋतु में मस्ती के क्षणों में गाये जानेवाले गीतों को 'फागु' का नाम दिया गया होगा और अब साहित्यिक रूप प्राप्त करने पर अलंकृत शैली इसकी खास विशेषता बन गयी।

समरकृत नेमिनाथ फागु में चन्द्रमा, कोयल आदि के लौकिक और पारम्परिक उपमानों के जरिये राजीमती की विरह-व्यथा और वेदना को अभिव्यक्ति मिली है। 'स्थूलिभद्र फागु' के रचयिता मालदेव ने तो परम्परा और लोकतत्त्वों का ख़ासा सहयोग लिया है -

वेश कुनारि जुआरीइं दूरजन अतिहिं विगोवइ रे।
अगिनि सांप राजा योगी, कबहुँ मीत न होवइ रे।।
सो कंचण क्या पहिरीइ, जु कानेहुँ तुं तोरइ रे।
जइ परमेस्वर रूसीइ, नाऊ पालि कूटि रे।।

'स्थूलिभद्र कोशा प्रेम विलास फागु' में ऐहिक सन्दर्भों पर जिस तरह से ज़ोर दिया गया है वह कितना स्वाभाविक और लौकिक है देखा जा सकता है -

सूकइ सरोवर जल विना, हंसा किस्युंरे करेसि।
जस घरि गमतीय गोरडी, तस किम गमइ रे विदेस।।

अर्थात् अगर जल बिना सरोवर सूख गया हो तो हंस क्या करेगा ? इसी तरह प्राप्त पूर्ण यौवना को परित्याग करके अगर प्रियतम प्रवास पर जा रहा है तो उसे क्या लाभ होगा ?

जाहिर है जहाँ पर जैन कवियों ने लौकिक लोकाचार को सामने रखा वहाँ पर साहित्यिकता के श्रेष्ठ अंश हमें दिख जाते हैं। डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय ने फागु काव्यों की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है[4] -

1. वसन्त ऋतु का मादक वर्णन।
2. लय, ध्वनि, नाद-सौन्दर्य के साथ वाद्य की अनुगूँज पर गाया और नाचा जाना।
3. संयोग और वियोग शृंगार की मार्मिक अभिव्यक्ति।
4. कामदेव की विशेष आराधना।
5. 'भास' में विभक्त कर छोटी-मोटी कथा देकर खण्डकाव्य का स्वरूप प्रदान कर देना।
6. दोहा, रोला, सोरठा तथा फागु छन्दों का प्रयोग।

7. संयम श्री की विजय।

आखिरी विशेषता को अगर गौण मान लिया जाय तो जैन फागु काव्य की लोक-परकता को और स्वाभाविक दृष्टि से देखा जा सकता है तथा डॉ. पाण्डेय के साथ यह कहा भी जा सकता है - 'काव्य सौष्ठव, रस-योजना तथा मार्मिक अभिव्यञ्जना की दृष्टि से कुछ फागु काव्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं।'

---

1. फागु काव्य-स्वरूप, विवेचन एवं मूल्यांकन, गोविन्द रजनीश, पृष्ठ 13
2. वही, पृष्ठ 63
3. जैन संस्कृत काव्यों में भी वसन्त को राजत्व नि:संकोच दिया गया है तथा यह बतलाया गया है कि ऋतु की मादक प्रकृति प्रिय-संगम की अभिलाषा उत्पन्न कर देती है -

   नवस्य राज्ञः सुरभेर्व्यावृतस्य जगज्जये।
   पुष्प वर्षच्छलाद्दण्डं ददतीव वने द्रुमा॥
   - 3/ श्रेणिक चरित, 3.95

   पिकाकूजितमाकर्ण्य त्वक्तमानाग्रहा मधौ।
   मृगाक्षी श्लाघते पत्ये तिष्ठते शपते द्रुते॥
   - श्रेणिक चरित, 8.92
4. अपभ्रंश और अवहट्ट : एक अन्तर्यात्रा, डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय, पृष्ठ 324

हिन्दी भवन
विश्वभारती, शान्तिनिकेतन
पश्चिम बंगाल – 731 235

'राउलवेल' में वर्णित नारी के वस्त्राभूषण तथा शृंगार प्रसाधन

- डॉ. हर्षनन्दिनी भाटिया

■

उत्तरकालीन अपभ्रंश की शिलांकित कृति 'राउलवेल' भाषा काव्य है। इस कृति का रचयिता 'रोडा' नामक कवि है। यह शिलालेख मुम्बई के 'प्रिन्स ऑफ़ वेल्स' म्यूज़ियम में इस समय सुरक्षित है। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार यह मालवा के धार नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। वर्तमान में यह भग्नावस्था में है और कुछ अंश खण्डित हो चुके हैं। प्रस्तुत रूप में भी कुछ अंश अपाठ्य हैं। डॉ. हरिवल्लभ भायाणी[1] एवं डॉ. माताप्रसाद गुप्त[2] दोनों ही विद्वानों के अनुसार इसका लिपिकाल ईसा की 11वीं सदी होना चाहिए। 'राउलवेल' राजकुल विलास का अपभ्रंश रूप है। इस काव्य में किसी सामन्त के राउल (राजकुल)- राजभवन की रमणियों का वर्णन है, इसलिए इसका नाम राजकुल विलास (राउलवेल) रखा गया है। यह उत्तर अपभ्रंशकालीन ग्रन्थ होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण शिलालेख एक ललित काव्य है जिसमें छह प्रदेशों की नायिकाओं का नख-शिख वर्णन किया गया है। यद्यपि यह एक लघु काव्य है फिर भी इसमें अनूप रूप और अद्‌भुत सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

डॉ. गुप्त इसका लेख-स्थान 'त्रिकलिंग' मानते हैं। उनका अनुमान है कि इस काव्य में प्रयुक्त 'टेल्लि' और 'टेल्लिपुतु' शब्दों से ऐसा ही संकेत मिलता है। चूँकि इसमें 'गौड़' शब्द का प्रयोग किया गया है इस कारण डॉ. गुप्त का मत है कि यह कलचूरि वंश के अधीन किसी राजा के 'गौड़' सामन्त से सम्बद्ध हो सकता है क्योंकि त्रिकलिंग उस समय कलचुरियों के अधिपत्य में था और कलचुरि तथा गौड़ एक नहीं है।

डॉ. गुप्त के अनुसार इस काव्य में उक्त गौड़ सामन्त की कुछ नायिकाओं का वर्णन है। पहली नायिका पूर्णत: स्पष्ट नहीं होती, दूसरी 'हणि' है, तीसरी 'राउल' नाम की क्षत्रिय कन्या है, चौथी 'टिक्कणी', पाँचवीं 'गौड़ी' और छठी कोई 'मालवीया' है। प्रथम पाँच का नख-शिख वर्णन पद्य में है तथा अन्तिम का वर्णन गद्य में किया गया है।

वस्त्र

प्रथमत: हम इन नायिकाओं के वस्त्रों के विषय में विचार करें तो ज्ञात होता है कि कुछ साधारण कपड़ों का प्रयोग होता था। सिले हुए कपड़ों का नाममात्र रूप में है- जैसे ओढ़ने का वस्त्र। उस वस्त्र के ओढ़ने का वर्णन और ओढ़ लेने पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे मुख पर चन्द्रमा की चाँदनी बिखर पड़ी है। यह वर्णन अति महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन समय में इस प्रकार के वर्णन यदा-कदा ही दृष्टिगोचर होते हैं और कम प्रयोग में आते हैं -

धवलर कापड़ ओढ़ियल कइसे।

भुह ससि जोन्ह पसारेल्ह जैसे॥

'पारडी' नामक एक प्रकार का बहुत महीन मलमल का कपड़ा है जिसे पहनकर नायिका चाँद के समान झिलमिलाती है -

पारडी आंतरे, धणहरु कइसउ।

सरउ-जलय-विच चाँद जइसउ॥

'सेंदूरी' एक धारीदार कपड़े का नाम है तथा दक्षिण भारत का एक महीन मलमल है जिसकी दो ओढ़नियाँ बनाई गई हैं। सेंन्दूरी, सोलदही व विउढणु तीनों का वर्णन एक पंक्ति में कर दिया गया है -

विउढणु सेंदूरी सोलदही कीजइ।

रूउ देखि तारउ सब जणु खीजइ॥

नायिका के घाघरे का उल्लेख किया गया है जो बहुत घेरवाला है, जो आज भी प्रचलित है -

पहिरण घाघरेहिं जो केरा।

कछडा-वछडा डहि पर इतरा॥

नायिका के पहनने का प्रमुख वस्त्र 'कंचुकी' है जिसका वर्णन अनेक स्थलों पर अनेक नाम से हुआ है। मूल शब्द कॉचू ही है किन्तु अनेक रूपों में प्रयुक्त किया गया है -

कंचुआ-रातऊ कंचुआ अति सुठु चॉगउ।

गाढउ वाध (?) ..... ऑगउ॥

कय्यू-आधूधाडे थणहिं जो कय्यूँ।
सी (इ ?) सन्नाहु अंणगही नं (हू ?)॥
कॉचू-लावझॅलावउ कॉचू रात (उ)
कोकु न पेखतु करइ उमातउ॥
कांचुली सइ र हान (?) सौ (ह) कवि वह इ॥

कंचुकी और घाघरा पहनने के उपरान्त दुपट्टा और ओढ़नियों का ध्यान आना स्वाभाविक ही है।

पडिह – **पटी (दुपट्टे का) पड़िह ..... ली माढ़ी**
(आ) निकु वानु जो ऐथु घेठा॥

दो ओढ़नियाँ – विउढणु – **विउढणु सेंदुरी सोलदही कीजइ॥**
रूउ देखि तारउ सव जणु खीजइ॥

कंचुकी, घाघरा और ओढ़नी ही नहीं नायिकाएँ पाटन की साड़ी भी शरीर पर धारण करती थीं। कवि 'पाटणी' का उल्लेख करना भूला नहीं -

कापडिहि र करउ जा गोरी तहि सिंदू (?) रिउ।
वेसु ज सॉवली तहि र पाटणी (हर) इ करउ॥

आभूषण

वस्त्रों की भाँति 'राउलवेल' में आभूषणों का वर्णन भी किया गया है। आभूषणों में शीश का आभूषण- टीका; कान का आभूषण- धविडवनहं, कचिडिअउ, कंथडिअहि, ताडरपात तथा कनवास का उल्लेख हुआ है। गले के आभूषणों में हारू, कॉठी, जलाकांठी, एकावली, जवाधताह आदि का उल्लेख हुआ है। हाथ का आभूषण चूड़ा और पैर का आभूषण पाहसिया का उल्लेख किया गया है।

सिर के आभूषण

टीहा – **चंद-सवाणा टीह किय्यइ॥**
ते मुहुं एक्केण वि मंडिज्जइ॥

टीका – **अरे अरे वर्व्वर देखसि न टीका।**
चाँदहि ऊपर ऐह भइ टीका॥
वटुला टीका केहर (भाव) इ।
मुहं ससि उलगं चाहइ नावइ॥

कान के आभूषण

वारा (वनवारी) – **विणु वनवारां अक्षण नो वारसि ।।**
बुद्धि रे वंडिरो आपणि हारसि ।।

धवडिबनहं – यह कान में पहनने के झुमके के समान सोने का आभूषण है।

(कानि) हिं धडिवनहं चि जे रेख ।।
ते चिन्तवंतहं आनिक ओरब ।।

कांचडिअउ – (कांचड़ी) **करडिम्ब अनु काचडिअउ कानहिं।**
काइं करेवउ सोहहिं आनहिं ।।

कथांडिअहि – (कय्यडि) **कय्यूडिअहि सोहहिं दुइ गन्न।**
मंडन संडन डहि परे अन्न ।।
(कं ?) य्यूविय्यहिं जे थण दीसहिं।
ते निहालि सब वथु उवीसहिं ।।

ताडरपात – यह पत्ते के आकार का कर्णाभरण है -

कानन्हु पहिरले ताडर पात ।।
जणु सोहइ एव सोहरे पात ।।

कनवास – **कनवासहीं कानही वा ..... वह करउ खूटल वालु ।।**

गले के आभूषण

हारू- सूतेर हारू रोमावलि कलिअ (उ)
जणि गाँगहि जलु जउणहि मिलिअउ ।।
थणहर माझे जो हारुसुतेरउ ।।
सोहन्हु सवन्हु सो एकु ज ठेरउ ।।
सूते तरीअन्हु करउ (जो ?) हारु।
सो देखि हारन्हु भउ अवहारू ।।

गले में 'काठी' और 'जालाकांठी' पहनने का उल्लेख आया है -

गलइ पुलू की भा (वइ) काँठी।
कासु तणि सा हरइ न दि (ट्ठी)

जालाकांठी – **जलाकांठी गलइ सुहावइ**

आनु कि ..... ए इ ता-करि (ए ?) वह ।।

एकावलि – **एकावलि (गल ?) एक बाधी सइ र इसी भावइ।**

जवाधताह – **जवाधताह काम्ब-दुमहं (?) आलवालु जइसी भावइ ।।**

नायिकाएँ ग्रन्थित तागा भी गले में पहनती हैं -

गंठिआ-तागउ गलेहि सो भूसणु।

जो देखि वंडिरो को न (?) (मू) झइ जणु।।

मुक्ता के सदृश चमकता हुआ हार पहनकर सुशोभित होती थीं -

पासे सोना-जालउ कीजइ।

मोत्तासर-सोह तें हूँ हसीजइ ।।

प्रो. भायाणी[4] ने कंठ के आभूषणों का सभी नायिकाओं का तुलनात्मक विवरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है -

नायिका

जलाकांठि	पुलु की	जलाली	तागु	एकावली
कांठी	कांठी	कढी	सोना जालु गंठिया तागउ तरीउ हारू सुत हारा	

हाथ के आभूषण

हाथों के आभूषणों में सोने के चूड़े का उल्लेख किया गया है।

चूड़ा – **न पुणु जवहीं ते हाथ हीं पायहीं।**

पइ ह्रिआ सोना-केरा चूड़ा।।

पाँव के आभूषण

पाहंसिया – **पाइहिं पाहंसि निरू चॉगा।**

लोण चि आनिक (उ) माड़ी ऑगा।।

'राउलवेल' में वस्त्राभूषणों का अधिक उल्लेख है किन्तु शृंगार-प्रसाधनों का उल्लेख

कम है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर शृंगार प्रसाधन को ही अधिक महत्त्व दिया जाता था इस कारण आँख में काजल और ओठों की लालिमा का ही विशेष प्रचलन था। 'राउलवेल' में इन दो शृंगार प्रसाधनों पर अधिक बल दिया गया है और उल्लेख किया गया है -

काजल – **आँखहिं काजलु तरलउ दीजउ।**
आछउ तुछउ फूलु + (ईज) इ॥
ऑखिहिं र तु रूरउ काजलु दीनउ कइसउ॥
जणु चाखुहु करइं भायइ कियउ-णिसउ।

तम्बोलें – ओठों को रंजित करने के लिए तम्बोलें का प्रयोग किया गया है -

अह (रु) तंबोले मणु-मणु रातउ॥
सोह देह कवि आन (आतउ)॥

'राउलवेल' में वर्णित इन विभिन्न नायिकाओं के वस्त्राभूषणों और शृंगार प्रसाधनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय आभूषणों को विशेष महत्त्व दिया जाता था। कवि ने नायिकाओं का वर्णन करते समय प्रयत्न किया है कि कुछ यथार्थ और चमत्कार लाने के लिए उस क्षेत्र विशेष की नायिका के वस्त्राभूषण वर्णन में उस क्षेत्र की भाषा का प्रयोग हो।

---

1. भारतीय विद्या, भाग 14, अंक 30, पृष्ठ 130-146
2. राउरवेल, हिन्दी अनुशीलन, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा अभिनन्दनांक, 1960
3. राउलवेल, सम्पादक - डॉ. कैलाशचन्द भाटिया, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983 ई.। लेख में दिये गये सभी उद्धरण उक्त पुस्तक से लिये गये हैं।
4. डॉ. कैलाशचन्द्र भाटिया- राउलवेल की भाषा, भारतीय साहित्य, अक्टूबर 1961 (वर्ष 6 अंक 4) आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, पृष्ठ संख्या 101 से 121
5. शोध और स्वाध्याय, डॉ. हरिवल्लभ भायानी, हिन्दी साहित्य अकादमी, गाँधी नगर, गुजरात, 1996

'नन्दन'
मैरिस रोड, अलीगढ़

प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रन्थों में अयोध्या

- श्री वेदप्रकाश गर्ग

■

उत्तर कोशल की अयोध्या नगरी समस्त आश्चर्यों का निधान, यथा नाम तथा गुण रही है- 'सर्वाश्चर्य निधानमुत्तर कौशलेष्वयोध्यति यथार्थाभिधाना नगरी' – (कवि धनपाल)। सरयू नदी के दक्षिणी तट पर स्थित अयोध्या की गणना भारत की प्राचीनतम महानगरियों एवं परमपावन धर्म-स्थानों में की जाती हैं। इस धार्मिक नगरी को मोक्षदायिनी नगरियों में प्रथम स्थान प्राप्त है -

अयोध्या-मथुरा-माया-काशी-काञ्ची-ह्यवन्तिका।
पुरी-द्वारावती-चैव-सप्तैता मोक्षदायिकाः।।

प्राचीन भारतीय साहित्य में इस महानगरी अयोध्या के अनेक वर्णन प्राप्त हैं। अयोध्या की गणना दस प्राचीन महा-राजधानियों एवं उत्तरापथ की पाँच महानगरियों में की गई है। भारत की इस आद्यनगरी का निर्माण स्वयं आदिराज मनु ने किया था -

कोसलो नाम विदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधन धान्यवान्।।
अयोध्या नाम तत्रास्ति नगरी लोक विश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण पुरैव निर्मिता स्वयं।।

वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड

प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में इस नगरी के अनेक नाम मिलते हैं। यथा- अयोध्या, साकेत, विनीता, प्रथमपुरी, इक्ष्वाकुभूमि, कोशला, कोशलपुरी आदि।[1] यदि देखा जाए तो यह नगरी हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि सभी का सांस्कृतिक केन्द्र एवं धर्मस्थली रही है। उन सभी के धर्मायतन यहाँ पर हैं। यह जैनियों के तो कई तीर्थंकरों की जन्मभूमि है और जैन संस्कृति की एक प्रमुख प्रतीक है।[2]

अथर्ववेद[3], वाल्मीकि रामायण, रघुवंश आदि अनेक महान् ग्रन्थों में इस नगरी के बड़े भव्य वर्णन प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय में अयोध्या की जो महिमा है, वही प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य में सुलभ है। एक प्रकार से वास्तविकता तो यह है कि इस पावन महानगरी के जैसे सुन्दर एवं भक्तिपूर्ण वर्णन जैन-साहित्य में मिलते हैं, वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं, क्योंकि जैन मतावलम्बियों के अनुसार ऋषभदेव जी आदि पाँच तीर्थंकरों की जन्म-स्थली है और उनके तीर्थंकरों में से 22 इक्ष्वाकुवंशी थे। अयोध्या को ही इक्ष्वाकु-वंशियों की राजधानी कहलाने का गौरव प्राप्त है। यही कारण है कि अन्य नगरियों की अपेक्षा अयोध्या को जैनों ने अधिक महत्त्व दिया है -

नागपुरं साएया सावत्थी तह य होइ कोसम्बी।
पोयणपुर सीहपुरं सेलपुरं चेव कोसम्बी॥
पुणरवि पोयणपुरं इमाणि नयराणि वासुदेवाण।
आसी कमेण परभवे सुरपुर सरि साई सव्वाइं॥[4]

अर्थात् नौ वासुदेवों की सात नगरियाँ हैं, जिनका क्रम से उल्लेख हुआ है। ये सभी नगर स्वर्गलोक के सदृश माने गए हैं। आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति (अ. 4, गाथा 526, 27, 29, 30 व 39) में **'जादो हु अवज्झाए उसहो'** आदि गाथाओं द्वारा सूचित किया है कि अयोध्या नगरी में आदिनाथ ऋषभदेव का जन्म हुआ था। इसी प्रकार साकेत में अजितनाथ का- **साकेदे अजिय जिणो**, अभिनन्दननाथ का- **साकेदेणंदणो जायो**, सुमतिनाथ का- **सुमई साकेद पुरम्मि** और अनन्तनाथ का- **अणंतो साकेद पुरे जायो** जन्म हुआ था।

विमलसूरि ने अपने पउमचरिउ में साकेतपुरी का उल्लेख करते हुए लिखा है -

साएअपुरवरीए एगन्ते नाभि-नन्दणो भयवं।
चिट्ठइ सुसंघ सहिओ ताव य भरहो समणुपत्तो॥ (4.68)

अर्थात् साकेत नाम की श्रेष्ठ नगरी के एकान्त में महाराज नाभि के सुपुत्र (भगवान्) ऋषभ अपने संघ के साथ रहे तब भरत वहाँ आये। यदि देखा जाए तो साकेत की अति प्राचीन परम्परा प्राकृत वाङ्मय में सुलभ है। विमलसूरि, आचार्य जिनसेन आदि ने इस नगरी के बड़े भव्य वर्णन किए हैं। 'चउपन्नमहा पुरिस चरियं' में अयोध्या का वर्णन दृष्टव्य है -

'अत्थि इहेव जबुंदीवेदीपे भारहवासे, भउज्झा णाम णयरी सयलणयर गुणोकेया। तीए य दसरहो णाम महाराया परिवसइ।'

अर्थात् इसी जम्बू नामक द्वीप में भारतवर्ष में अयोध्या नाम की नगरी सभी नगर-गुणों से युक्त है। उसमें दशरथ नाम का महाराजा रहता है।

इस प्रकार अयोध्या अथवा साकेत एक अनादि नगरी के रूप में प्रतिष्ठा पाती रही है। 'अभिधान-राजेन्द्रकोश' में अयोध्या-कल्प से उद्धृत अयोध्या का उल्लेख इस रूप में है -

'अउज्झाए एगहिठयाइं जहा अउज्झा अवज्झा कोसला विणीया साकेयं इक्खागु- भूमी रामपुरी।' अर्थात् अयोध्या के नाम इस प्रकार हैं -

अयोध्या, अवध्या, कोसला, विनीता, साकेत, इक्ष्वाकुभूमि और रामपुरी। उक्त नामों में 'विनीता'[6] जैनों का दिया हुआ नाम है। 'अयोध्या' वीरता-सूचक है क्योंकि कोई भी शत्रु उसके विरुद्ध युद्ध करने का साहस नहीं कर सकता था। अवध्या[7] नाम उसकी अहिंसावृत्ति का सूचक है, जहाँ कोई जीववध्य नहीं माना जाता। कोसला,[8] कोसल जनपद के कारण है और साकेत[9] वैकुण्ठ लोक का भी नाम होने से अवतारवाद का सूचक रहा है। इक्ष्वाकुभूमि से राजवंश का संकेत मिलता है और रामपुरी[10] वैष्णवों का विशेष प्रिय नाम है, जो राम-भक्ति की पुरातन परम्परा को प्रमाणित करता है। आगे इस नगरी को सरयू तट पर स्थित बताया गया है -

'एसा पुरी अउज्झा, सरउजलाभिसिच्चमाण-गढ-भित्ती।'

अर्थात् यह अयोध्या वह नगरी है, जिसके दुर्गों की दीवारें सरयू नदी के जल से सिंचती रहती हैं। 'अयोध्या कल्प' में यह भी उल्लेख है -

'सरउ नईए-उत्तर दिसाए बारसहिं जोअणेहिं अट्ठावय-तरावरो...।'

अर्थात् सरयू नदी की उत्तर दिशा में बारह योजन पर अष्टापद[11] नाम का पर्वत है। अत: इस तथ्य की खोज की जानी चाहिए कि क्या इतनी दूरी पर ऐसा कोई स्थान है ?

प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश के काव्यों में अयोध्या का विशेष उल्लेख मिलता है। महाकवि स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' में इस नगरी का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने आरम्भ में भरत द्वारा दिग्विजय कर अयोध्या में लौटने का चित्रण इस प्रकार किया है -

सट्ठिहुँ वरिस सहासहिं पुण्ण जयासहिं भरहु अउज्झ पईसरइ।
णव-णिसियर-धारउ कलह-पियारउ चक्करयणु ण पईसरइ॥ 4.1

अर्थात् साठ हज़ार वर्षों के बाद विजय की पूर्ण आशावाले भरत अयोध्या को लौटे। परन्तु द्वितीया के चन्द्र के समान, धारवाला युद्ध-प्रिय श्रेष्ठ चक्र अयोध्या में प्रवेश नहीं कर रहा था। तात्पर्य यह है कि यहाँ बाहुबली पर विजय न पाने के कारण भरत की दिग्विजय-

यात्रा अधूरी रह गई है, इस ओर संकेत है।

इस नगरी का मोहक वर्णन करते हुए महाकवि स्वयंभू ने लिखा है -

धूवन्त-धवल-धयवड-पउरु।

पिए पेक्खु अउज्झाउरि णयरु॥ 78.20.8

लङ्का से लौटते हुए विमान पर से सीता को सम्बोधित कर श्रीराम कहते हैं कि- 'हे प्रिये ! अयोध्या नगर को देखो, जिसमें प्रचुर धवल पताकाएँ फहरा रही हैं। यहाँ राम के स्वागत हेतु लजाई हुई अयोध्या का वर्णन है।

लवणासुर को मारने के लिए शत्रुघ्न की यात्रा के वर्णन में अयोध्या का नाम आया है-

सामन्तहं लक्खें परियरिउ।

सत्तुहणु अउज्झहे णीसरिउ॥ 80.5.5

अर्थात् एक लाख सामन्तों से घिरे हुए शत्रुघ्न अयोध्या से निकले। वैसे तो स्वयभू रामायण में अयोध्या का प्रभूत वर्णन है और उन सभी का उल्लेख इस छोटे से लेख में किया जाना सम्भव भी नहीं है। अतः उनमें से एक-दो का उल्लेख और किया जा रहा है -

तहिं जे अउज्झहिं वहवे कालें।

उच्छण्णें णरवर-तरु-जालें॥

विमलेक्खुक्क-वंस उप्पण्णउ।

धरणीधरु सुरूव-संपण्णउ॥ 5.1.1-2

अर्थात् उसी अयोध्या में बहुत समय के पश्चात् श्रेष्ठ पुरुषरूपी वृक्ष-समूह जब उच्छिन्न हुआ तब निर्मल इक्ष्वाकु वंश में सौन्दर्य-सम्पन्न एक राजा उत्पन्न हुआ। आगे उसी राजा की वंश-परम्परा का उल्लेख है -

सुणु अक्खमि रहुवंस-पहाणउ।

दसरहु अत्थि अउज्झहें राणउ॥

तासु पुत्त होसन्ति धुरन्धर।

वासुएव-बलएव धणुद्धर॥ 21.1.2-3

अर्थात् रघुवंश में प्रधान दशरथ अयोध्या के राजा हैं, उनके धुरन्धर धनुर्धर पुत्र वासुदेव एवं बलदेव होंगे।

इस प्रकार देखा जाए तो अयोध्या नगरी अत्यन्त प्राचीनकाल से पुराणों में वर्णित रही

है। वाल्मीकि की रामायण में इस नगरी की जो महिमा है, वह प्राकृत और अपभ्रंश के वाङ्मय में भी सुरक्षित है।

---

1. प्राकृत प्रापर नेम्स, पृष्ठ 3 सं. मेहता एवं चन्द्रा, ये नाम विभिन्न कारणों से रखे गए प्रतीत होते हैं।

2. जैन मान्यतानुसार अयोध्या आदि तीर्थ एवं आदि नगर है। यहाँ 7 कुलकरों तथा ऋषभदेव आदि 5 तीर्थंकरों एवं महावीर स्वामी के नवें गणधर 'अचल भ्राता' (अयलो च कोसलाए कोसला नाम अयोज्झा .....।) का जन्म हुआ था। इसीलिए इस नगरी को जैन तीर्थ के रूप में मान्यता मिली।

3. 'अष्ट चक्रानव द्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्यमयकोषः स्वर्गज्योतिषावृतः॥' (अथर्ववेद, दशम स्कन्ध)

   - यह देवताओं की नगरी जो आठ चक्र और नौ द्वारों से शोभित है, जिसका स्वर्ग के समान हिरण्यमय कोश दिव्य ज्योति से आवृत है। 'रुद्रयामल' ग्रन्थ में इस नगरी को विष्णु जी का मस्तक बताया गया है और 'वशिष्ठ संहिता' में इसे चिन्मय (अनादि) कहकर इसके आठ नाम गिनाये गये हैं।

4. पद्मपुराण, आचार्य रविषेण, 20.169.170

5. जैन-साहित्य में अयोध्या और साकेत इन दोनों को एक ही नगर माना गया है। हरिभद्रसूरि कृत 'समराइच्चकहा' में उक्त दोनों नामों से इस महानगरी का उल्लेख हुआ है।

6. 'आवश्यक निर्युक्ति' (दीपिका, पृष्ठ 59) के अनुसार यहाँ के निवासी अत्यन्त विनम्र स्वभाव के थे अर्थात् विनीत एवं सभ्यजनों का निवास होने के कारण इसका 'विनीता' नाम पड़ा। 'ततः इन्द्र आह साधु विनीताः पुरुषाः .....।'

7. उक्त नामों में 'अवज्झा' का अधिक महत्त्व है, क्योंकि इसी से हिन्दी का 'अवध' बना है। यद्यपि अवध अर्वाचीन शब्द है, फिर भी 'अवध' से उसे तत्सम माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ जीवों का वध न होता हो, वह भूमि अवध है।

8. यहाँ के निवासी अपने-अपने कार्यों में कुशल थे, अतः यह नगरी 'कुशला' नाम से प्रसिद्ध हुई।

9. वह नगरी अनेक भव्य भवनों से सुशोभित थी, जिसकी ऊँची फहराती हुई ध्वजाएँ स्वर्गलोक के भवनों को आमन्त्रित करती प्रतीत होती थीं। अतः उसका 'साकेत' नाम पड़ा।

10. अयोध्या इक्ष्वाकुवंश के राजाओं की राजधानी रही है, वह आगे चलकर राम की पुरी बन गई, जो भगवान् राम के सम्बन्ध का स्मरण कराती है। रामभक्ति के साथ सरयू एवं अयोध्या का उत्कर्ष उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है। घघ्घरदह (घाघरा) एवं सरयू के संगम पर स्वर्ग-द्वार होने के उल्लेख मिलता है, जो वस्तुतः यहाँ का एक प्राचीन और प्रसिद्ध घाट है। गाहड़वाल शासक चन्द्रदेव (सं. 1142-1156 वि.) के चन्द्रावती दान-पत्र में भी इसका उल्लेख मिलता है।

एपि-ग्राफिया इण्डिका, जिल्द -14, पृष्ठ 194 तथा आगे।

11. 'अष्टापद पर्वत' पर ऋषभदेव के विहार करने (आवश्यक निर्युक्ति-338; आवश्य चूर्णि, पूर्व भाग, 209), निर्वाण प्राप्त करने (आवश्यक निर्युक्ति-435) तथा वहाँ उनके पुत्र भरत द्वारा चैत्यों के निर्माण कराने का विवरण प्राचीन जैन-साहित्य में प्राप्त होता है (आवश्यक चूर्णी, पूर्व भाग, पृष्ठ 223)।

14, खटीकान,
मुजफ्फरनगर 251 002 (उ.प्र.)